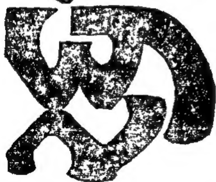
ममता प्रकाशन

१४७, सोहबतिया बाग, इलाहाबाद–६

नयी कहानियाँ



सम्पादकः सतीश जमाली

प्रथम संस्करण . अक्तूबर १९७६

मूल्य : बारह रुपये

प्रकाशक : ममता प्रकाशन, १४७, मोहत्वनिया बाग, इलाहाबाद-६
मुद्रक : इलाहाबाद प्रेस, ३७०, रानी मंडी, इलाहाबाद-३

सहयोगी रचनाकारों के लिए

२६ नये कहानीकार

राजी सेठ : जन्म अक्तूबर १८३५। अंग्रेजी साहित्य में एम० ए०। पहली कहानी अगस्त १८७४ में 'नया प्रतीक' में प्रकाशित। कहानियों के अतिरिक्त आपने कविताएं भी लिखी हैं। अब तक १५-१६ कहानियां प्रकाशित, जिनमें से कुछ खूब चर्चित हुई हैं।

एक यात्रान्त

तुम ने कहा तो है कई बार—कहते रहे हो कि जो कुछ क्षुद्र, छिछला, हलका और बाहरी है उसकी ओर न देखेंगे। केवल दिव्य और उदात्त ही तुम्हारे-मेरे सम्बन्धों की परिणति है, ऐसा मान कर चलते रहेंगे—उसे ही सोचते रहेंगे।

पूरी सहमति से मैंने इसे सुना और स्वीकारा है और मन को समझाया है कि हम कभी उसे न छुएंगे जो नाखूनों पर पुती-हुई नेल पालिश के कुछ-कुछ उतर जाने से, घर के गलीज कामों से खुरदरे, गन्दे और घिस कर बदरंग हो गये नाखूनों के नीचे से झांकता रहता है—एक झूठ की तरह।

हम सोचते रहे हैं कि हम वचन-बद्ध हैं। मूल्यवान् और सुन्दर की निरन्तरता बनाये रखने की एक अनन्त साध के प्रति कमिटेड हैं—कमिटेड रहेंगे। हम वह सब सोचते रहेंगे जो अस्तित्वमान हो या न हो परन्तु जिसका होना एक स्थिर सत्य की तरह सोचा जाना चाहिए।

इसी लिए...कल की बात को मैं पूरी तरह दिमाग से उतार फेंकना चाहती हूं। कल जब नडियाद से बड़ौदा जाते तुम कार में बहकते रहे थे...

तुम्हारी दिल्ली यात्रा बड़ौदा में आरम्भ होनी थी और नडियाद से बड़ौदा का रास्ता हम सब कार से तय कर रहे थे।

ऊंचे पद की हवस ने तुम से एक असावधान क्षण में कहला लिया था—'इसे स्वीकारने का अर्थ जानता हूं...सब पीछे छूट जायेगा...

मेरे सारे आत्मीय तथा जीवन में जो भी, जितना भी 'सुन्दर और मूल्यवान्' है····'

मैंने पूछा—'अभी तक तो मैं इस पद से संलग्न दूसरी तरह के खतरों की—विभागीय, राजनैतिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी—बात कर रही थी, पर क्या तुम्हारी अवेयरनेस ये खतरे भी जानती है ?····'

'वैरी वेल !···वट आई डोंट माइंड····' (अच्छी तरह। पर मुझे परवाह नहीं।) तुम्हारे कहने पर चौंक कर पहली बार मैंने तुम्हें भर-पूर देखा। अकेले चल सकने का यह साहस तुम्हारे लिए नयी चीज थी। तुमने हमेशा अपने दोनों ओर बोझ झेलती लाठियों के पराक्रम पर विश्वास किया है।

''खतरों में जीने का अपना आनन्द है,' तुम कहते रहे थे। अब तक गाड़ी की गति के साथ तुम्हारा कहा सुनने को कान ही तत्पर थे, अब किसी दूसरे स्तर पर मस्तिष्क भी सतर्क होने लगा।

'क्या मात्र इतना ही····' मैं जो कहने जा रही थी वह न कह कर यह कहने लगी—'खैर, जो सच में तुम्हारे आत्मीय होंगे तुम्हारे कार्य-कलापों के साथ स्वयं एडजस्ट कर लेंगे'।'

शायद यही एक चारु और सभ्य वाक्य कहा जा सकता था, उससे आगे कुछ नहीं···यह भी नहीं कि यह भूलना कठिन है कि तुम्हारे अन्दर अपनी आवश्यकताओं के लिए एक हिंसक और क्रूड अवेयरनेस है। तुम जब भी, जो कुछ भी पाना चाहते हो उसे पूरे दुस्साहस और दुराग्रह के साथ परिवेश की समस्त विषमताओं के बीच में उखाड़ कर ले आते हो। यह तर्क, ये वर्जनाएँ जो तुम्हारे सतर्क सामाजिक व्यक्तित्व को साधारणतया आक्रान्त रखती हैं, यहाँ एकाएक निरर्थक हो जाती हैं। यह सब करने के लिए—जो तुम्हें उस समय एकदम अर्जेंट और आवश्यक लगने लगता है—तुम कोई तर्कसंगत जस्टिफिकेशन ढूँढ लेते हो। युद्ध स्तर से वस्तुगत औचित्य को एक ओर ठेल कर तुम जीवन में अपनी प्राथमिकताएँ फिर से स्थिर करने लग जाते हो। तुम्हारे माप-दंड—जीवन के प्रति,

व्यक्तियों के प्रति, वस्तुओं के प्रति, हर बार नहीं भी बदलते तो भी बदलने की धमकियाँ देने लगते हैं—अभी कब तक तुम्हें जानते रहने की प्रक्रिया में निमग्न रहना होगा ?

इस बात में सन्देह नहीं कि सत्ता की दृष्टि में तुमने इस पद के लिए अपनी योग्यता और अपना मूल्य सिद्ध कर दिया है। तुम्हारे अपने यत्नों का पुरस्कार है यह। जो यत्न करें उसे पुरस्कार मिलना ही चाहिए—इस बात को मन से पूरी तरह स्वीकारते हुए भी सोच तो तुम्हारे चुनाव की तुला के नयेपन पर पैदा हुई थी। किस अपेक्षा का दबाव था जो एक ढीठ एकांगीपन से तुम से यह कहता रहा था ? कुछ चुनाव चेतन-अवचेतन कारणों और व्यक्तित्व की किन्हीं वरीयताओं के अधीन स्वयं हो जाते हैं। उस होने में उस के अतिरिक्त कुछ और न हो पाने की विवशता है, पर जो चुन कर, सोच कर, तौल कर···

भटक गयी हूँ···हाँ तो, मैं कह रही थी तुम सन्नद्ध हो···यश-लिप्सा के लिए···नाम-वृद्धि के लिए इन सब खतरों को ओढ़ लेना और उन सब निजी, विशिष्ट और मूल्यवान् लगती प्रतिबद्धताओं को पीछे छोड़ देना, जिनके आँचल में तुम्हारा अत्यधिक डरा हुआ, संवेदना-प्रधान और उस समय नितान्त प्रभा-शून्य हो जाने वाला व्यक्तित्व बार-बार मुँह छिपाता और अपनत्व की सुरक्षा टटोलता रहा है। देने वालों की क्षमताओं से अधिक चाहता रहा है और अपनत्व को एक जबरदस्त तानाशाही अधिकार की तरह भोगता रहा है···

रास्ते-भर एक मनोन्मुखी मस्ती में तुम डोल रहे थे। तुम्हारी इस उमंग को बार-बार टटोलने की कोशिश करती हूँ!···कितना पीछे धकेलती हूँ, फिर भी बरबस याद आता जाता है कि कहाँ तो इतने कमजोर रहे हो तुम कि छोटी-मोटी तकलीफों, व्यंग्यों और कथनों तक की तिलमिलाहट की चोट को लेकर कई-कई दिन खाट पर पड़-पड़ गये हो और आस-पास हर किसी को तुम ने, तुम्हें आहत कर देने के अपराधी-भाव में पूरा डुबो दिया है और अपनी शर्तों पर इसका पूरा हरजाना चाहा है।···

पूरी क्षमा प्रदान करने के लिए दूसरों को दीनता की पराकाष्ठा तक खींच लाना तुम्हें कितना प्रिय रहा है, क्योंकि क्षमा देने की क्षमता से अधिक, अक्षम्य अपराध के बोध से दूसरों को तोड़ना और सुलह करने की एक दयनीय बेबसी तक खींच लाने का दुराग्रह तुममें कहीं अधिक रहा है।...तुम तब ही बड़े बन सके हो जब तुमने सामने वाले को बहुत छोटा, बहुत घृणित और बहुत दयनीय करार कर लिया है। अनुपात में ऐसा स्टेचर गेन करने को—क्या कहेंगे?...तब से अब तक मैं इसे तुम्हारे साथ जुड़ने के कमिटमेंट की शर्तें ही समझती रही थी और स्वीकारती रही थी...परन्तु इस उघड़े जाते कमिटमेंट की नंगी झलकियाँ इस समय कितनी क्रूर लग रही हैं...।

हाँ, तो कार चलती रही थी...बड़ौदा के निकट आ चली थी। तुमने अचानक कहा—'यहाँ बी० के० से मिलना निहायत जरूरी है।' जरूर होगा...'इन सक्सेसफुल टर्म्स ही इज ए दिग शॉट।' (सफलता की दृष्टि से वह महान् व्यक्ति है।) इतने बड़े औद्योगिक अधिष्ठान का अधिनायक है।

घड़ी देख कर कुछ घबराहट हुई थी। साढ़े चार बज चुके थे। पाँच बज कर दस पर बड़ौदा ट्रेन पहुँचती थी। स्टेशन अभी चार किलोमीटर शेष था...। उसका आफिस यहीं स्थित था।

अकेले तुम उसके आफिस में गये और पाँच में दस मिनट शेष रहते वापिस आ गये। बी० के० भी साथ था। उसने भी तुम्हारे साथ स्टेशन तक आने की औपचारिक तत्परता दिखायी थी, जिसे अतिरिक्त अनुग्रह से तुमने मिश्री के घूँट की तरह स्वीकारा था।

कार हम सब से भरी हुई थी। बी० के० के लिए जगह निकालना मुश्किल था। जगह निकल भी सकती तो भी वह अपनी ही गाड़ी का पेट्रोल फूँक कर जाना पसन्द करता। अनुग्रह किस तरह करना होता है यह उसे सिखाने की जरूरत नहीं।

तुम्हें अपनी गाड़ी का दरवाजा खोल कर अन्दर बैठने को तत्पर देख

वह आगे बढ़ने को हुआ कि तुम्हारे भाई की (जो उसी समय उसी ऑफिस से बाहर निकला था) बैठने की जगह पाने की कठिनाई को लक्ष्य करके, उसने एकदम व्यावसायिक मुस्कराहट में, उसे हाथ द्वारा घेर कर साथ लेते हुए कहा : 'कम विद मी,' (मेरे साथ आओ) और लपक कर आगे बढ़ गया। उसके कदमों में तुम्हारी छूटती हुई ट्रेन की सम्भावना के एहसास की तेजी थी···। अपने और तुम्हारे भाई के बीच में स्टेटस के न पाटे जा सकने वाले फासले को वह यों ही नहीं भूल गया था···। उसके मूल में तुम थे न कि उसके अधिष्ठान में एक छोटे-से पद की पूर्ति करता हुआ तुम्हारा भाई।

तुम एकाएक गाड़ी में बैठते-बैठते रुक गये···। महत्त्व की एक न सँभाली जा सकने वाली लुब्ध गिड़गिड़ाहट से तुमने पूछा : 'मैं वी० के० की गाड़ी में जाऊँ ?' फिर जैसे तर्क-संगत सफाई (तर्क हमेशा तुम्हारा स्ट्राग प्वॉयंट रहा है) देते हुए जोड़ा—'उसने मुझे साथ चलने को कहा था···न जाना भी तो बुरा लगता है।'

घड़ी की सुइयों पर आँखें टिकाये रहने के कारण एक अधैर्य मन में उठा था परन्तु उस क्षण को रुह पाना···तुम्हारे व्यक्तित्व में प्रमुता के समक्ष इतना क्षुद्र हो जाने की दयनीयता को झेल पाना इतना कठिन लगा था कि उस स्थिति को उसी क्षण मिटा देने की इच्छा हुई थी। उबरने के लिए कुछ अतिरिक्त उत्साह से अपने शब्दों पर पूरा बल देते मैंने कहा था : 'श्योर, श्योर, यू मस्ट गो···रादर रन !' (अवश्य जाओ—बल्कि दौड़ो !)

···और तुम सच-मुच पहले लपकने और बाद में एक हास्यास्पद तेजी से दौड़ने लगे थे। तुम्हारी लपक कुछ ही क्षणों में उन दोनों के कदमों के समान्तर आ गयी थी। हमारी गाड़ी तुम्हारे और वी० के० के गाड़ी में बैठने और हमें आगे लीड करने की अपेक्षा में खामोश खड़ी रही थी।

वह क्षण ट्रेन पकड़ने से लगी सब चिन्ताओं से मुक्त था, क्योंकि तुम्हें जाना था और तुम आगे चल रहे थे। धीमे या तेज चलना तुम्हारा अपना

उत्तरदायित्व था। यों भी उस समय कितना सुखकर लगा था तुमसे जुड़ी समस्त चिन्ता से एकाएक मुक्ति पा जाना।

स्टेशन के बाहर हमारी गाड़ी का रुकना और स्टेशन के अन्दर ट्रेन का प्लेटफार्म पर रुकना लगभग एक साथ ही हुआ। भाग-दौड़ होना स्वाभाविक ही था, अत. भाग-दौड़ हुई। जो सबसे अधिक दयनीय था वह था बी० के० से बिछुड़ने का क्षण—शीघ्रता और नम्रता की रस्साकशी मे घृणित चारुता उपजाता हुआ एक लमहा।

प्लेटफार्म पर आकर अपना सामान रखवा कर तुम एकाएक मुक्त हो गये थे। ट्रेन पाँच मिनट पहले आयी थी और दस मिनट का स्टापेज था।

उस समय बहुत पहले की-सी निश्छलता की एक हल्की झिल्ली तुम्हारी आँखों मे तैर-सी गयी थी। मैंने नही सोचा था कि एक तटस्थ आलोचक के वेश मे भी, मेरे अन्दर सोता हुआ सुदूर अतीत का कोई सजग क्षण उस हल्की-सी पानी जैसी तरल और झिल्ली-सी पतली दस्तक से जाग उठेगा···। एकाएक मेरे भीतर वे सब बिछुड़ने के क्षण साकार होने लगे···ऐसे क्षणों में तुम्हारा एक निश्छल, निष्पाप और गहरी ईमानदार मुद्रा में चुपचाप खड़े रहना और मन के परत-दर-परत छिलते जाने को अपनी ही अन्तर्मुखी आँखों से देखना और गहरे महसूस करना। इस एहसास की लहर सदा मुझे ठीक स्थान पर छूती रही थी···

मेरी आँखों मे किसी अभिन्न सम्पृक्त क्षण के अवशेष अवश्य तैरे होंगे कि तुमने पकड़ लिया : 'कहाँ थी ?'

'कहीं नहीं', मैं सतर्क, पूरी तरह अपने काबू में थी।

तुमने उस सूत्र को पकड कर आगे बढना नही चाहा। मूल्यवान् को पीछे छोड़ देने की तुम्हारी यात्रा के समारम्भ की पहली घड़ी थी वह। जो पिघलन अतल में कहीं उद्वेलित हो रही थी वह स्याही के तरल धब्बों पर ब्लॉटिंग पेपर के अचानक गिर जाने पर होने वाली क्रिया की तरह सूख गयी। यहीं कुछ चुभा तो अवश्य; पर मैं मुस्कराती ही रही—एक

सफल कृत्रिम हँसी ।

तुमने अपनी रौ में झूमते हुए कहा : 'चेयरमैन से मिल कर आऊँगा, आर्डर्स मेरे हाथ में होंगे ।'

'ठीक है ।' मेरी एक ही प्रतिक्रिया हो सकती थी । मैंने अपने को इतनी सीमित ही छूट दी ।

गाड़ी ने सीटी दी ।—'तबीयत सँभालना,' मैंने कहा ।

'अब कोई चिन्ता की बात नहीं ।' बुश-शर्ट की पॉकेट में रखी 'ऐंजेसिड' की शीशी को तुमने हाथ से टटोलते हुए कहा ।

गाड़ी फिसलने लगी थी । तुम हाथ हिलाते हुए दरवाजे से सट गये.''मेरे भीतर की कोई उदंड अपेक्षा तुम्हारी फिसलती आँखें टटोल रही थी ''

तुम्हारी उड़ान भरती देह पर नये सपने रचती आँखें तो थीं पर उन में परिचित कुछ न था ।

मैं फिर भी, जो नहीं है—यदि है भी तो पीछे छूट जाने वाला है—पर जिसका होना हमारे बीच सोचा जाना चाहिए, उसे सोचती हुई वापिस लौट रही हूँ ।

सलाम बिन रज़ाक़ : हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में लिखते हैं। अब तक लगभग पैंतीस कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। एक कहानी-संग्रह 'काले नाग के पुजारी' प्रकाशनाधीन है। आप बम्बई म्यूनिसिपल कार्पोरेशन के शिक्षण विभाग से सम्बन्धित हैं।

अल्बम

होता यह है कि मैं जब भी इस अल्बम में अपनी तसवीर लगाने की कोशिश करता हूँ, मेरी तसवीर पर कई दूसरे चेहरे चिपक जाते हैं। ये चेहरे कोई और नहीं, मेरे ही सगे-संबंधियों रिश्तेदारों और दोस्तों के चेहरे हैं। मैं बार-बार अल्बम के पृष्ठ उलटता हूँ। मुझे अपना चेहरा कहीं दिखाई नहीं देता। मेरा चेहरा इन चेहरों की भीड़ में कहीं गुम हो गया है। टुकड़े-टुकड़े जोड़ कर एक आकृति गढ़ने का प्रयास करता हूँ। मगर हवा इस कदर तेज है कि कण-कण बिखर जाने का भय बराबर बना रहता है। मैं उस व्यक्ति की तरह हूँ जो दौड़ते-दौड़ते बहुत हाँप गया है। मगर उसका दुर्भाग्य यह है कि वह सुस्ताने के लिए जिस पेड़ के नीचे बैठा है, उसकी सारी जड़ों को कीड़े चाट चुके हैं। मुझे मुझ तक पहुँचने के लिए न जाने अभी कितने जहन्नुमों से गुजरना पड़ेगा। शायद यह सच है कि हमारा अस्तित्व जहन्नुम-दर-जहन्नुम बिखरा हुआ है।

मैं अपने चेहरे पर जिस चेहरे की आँच सबसे पहले महसूस करता हूँ, वह मेरी बूढ़ी माँ का चेहरा है। बेचारी प्रायः बीमार रहती है। अपनी उम्र को पहुँच चुकी है। बस किसी भी दिन बिदाई लेने को बैठी है। मैं तो बहुत सेवा करता हूँ इसकी। बस्ती का कौन सा डॉक्टर, वैद्य है, जिससे मैंने इसका इलाज नहीं कराया? अब भी करवा रहा हूँ। आज भी प्रति मास तीस-चालीस रुपयों की दवादारू हो जाती है इसकी। फल-फुरूट अलग से। इसमें उपकार जैसी कोई बात नहीं। मुझे इस सबके

लिए करना ही क्या पड़ता है। रोजाना दो-तीन घंटा ओवरटाइम, चार-पाँच झूठ और दफ्तर में एक-आध मोटे मुर्गे की तलाश। हां, यह सब किये बिना तीन-साढ़े तीन सौ मे कोई कुछ नहीं कर सकता। मेरी माँ भी सब जानती है। पिछले मास जब अप्रत्याशित रूप से एक 'पार्टी' से दो सौ रुपये मिले, तो घर में सबके लिए कपड़े, बच्चे के लिए मिठाई और खिलौने आ गये थे। तीन-चार रोज तक घर में हर्षोल्लास का वातावरण बना रहा। माँ तो दूसरे दिन 'करम अली शाह बाबा' की दरगाह पर चढ़ावा भी चढ़ा आयी, ताकि मेरी 'कमाई' में वृद्धि हो।

आज 'सत्य' को खोजना फिजूल है। 'सत्य' तो कब का दीमक और भींगरों का आहार बन चुका।

वे सब तो पुराने आदर्शवादी किस्से थे कि माँ अपने बेटे की आस्तीन के नीचे कुछ स्वर्णमुद्राएँ सी कर सफर पर रवाना करती है और हमेशा सच बोलने का आदेश देती है। फिर उस लड़के की सचाई से डाकुओं का हृदय-परिवर्तन हो जाता है। मेरी माँ यह सब करे, तो खाँस-खाँस कर तीसरे ही दिन दम तोड़ दे।

मैं तो जानता हूँ, माँ की बीमारी मौत की बीमारी है। मैं यह भी जानता हूँ, इसमें अब बात-बे-बात चिड़-चिड़ाने एवं खाँसने-खंकारने के सिवा कुछ शेष नहीं बचा है। मगर क्या किया जाये! मनुष्य अंतिम साँसों तक जिंदगी से चिमटा रहना चाहता है। कौन है, जो सहर्ष जिंदा कब्र मे उतरना चाहता हो? मां की सेवा सुश्रूषा से किसे इनकार हो सकता है! मां ने मुझे तीन वर्षों तक दूध पिलाया है। मैं भी पिछले बारह वर्षों से उसे दवाइ पिला रहा हूँ और जरा बेजार नही हुआ। नहीं-नहीं, मैं दूध और दवाई की तुलना नही कर रहा हूँ। मगर…अब मैं कैसे समझाऊँ, कभी-कभी आदमी को नैतिक बनने का श्रेय पाने के लिए इच्छाओं की कितनी कत्लगाहों से गुजरना पड़ता है।

अभी पिछली दफा मैं मां के लिए स्टोर से दवाई खरीदने गया। मेडिकल स्टोर और वाइनशॉप अगल-बगल में थे। मैं बेखयाली में वाइन-

शॉप में घुस गया और रंग-बिरंगी बोतलों पर एक भरपूर ललचायी दृष्टि डालता हुआ दवाइयों का नुस्खा वाइनशॉप के मैनेजर के हाथ में थमा दिया। उसने मुझे नीचे से ऊपर तक घूर कर देखा और उंगली से इशारा करता हुआ बोला—'बाजू में···बाजू में जाओ।'

तब मुझे होश आया और मैं शर्मिंदा होता हुआ वहाँ से पलट आया।

उस रात मुझे ठीक नींद नहीं आयी और अजीब ऊटपटांग सपने देखता रहा—मैं एक लक व दक मरुस्थल में दौड़ता चला जा रहा हूँ। प्यास के मारे मेरे गले में काटे-से पड़ गये हैं और मैं किसी थके-हारे चौपाये की तरह जबान निकाले हाँप रहा हूँ। सामने पानी का एक चश्मा उबल रहा है। मैं उसकी तरफ लपकता हूँ। मगर चश्मे के निकट पहुँचने से पहले ही घुटनों-घुटनों रेत में धंस जाता हूँ। धंसता ही चला जाता हूँ।

उस रात मैंने पहली दफा सोचा कि मां की खांसी मेरी नींद में कितना विघ्न डालती है।

मा की दवा-दारू बराबर जारी है। मैं कुपुत्र नहीं हूँ। मैंने तो निश्चय कर लिया है कि कुछ भी हो जाये, मेरा अपना आप बिक जाये। मैं आखिरी लम्हों तक उसका इलाज कराता रहूँगा। किसे अपनी मा से प्रेम नहीं होता? मुझे भी है। प्रेम शायद मनुष्य की अंतिम मजबूरी का नाम है।

मा के चेहरे के साथ एक और चेहरा जुड़ा हुआ है—हताश, पस्त और जगह-जगह से टूटा-फूटा। यह वालिद मरहूम का चेहरा है। वे अब इस संसार में नहीं रहे। बीमारी? कोई बीमारी नहीं थी। सिवाय शराब के। अंतिम दिनों में तो इस कदर पीने लगे थे कि उनके पसीने तक से शराब की गंध आने लगी थी। मैं पिता को सिर्फ इसलिए महापुरुष मानता हूँ कि वे संसार के अन्य महापुरुषों की तरह अपनी पत्नी, यानी मेरी मां, से हमेशा आतंकित रहे। कदाचित इसी आतंक को दूर करने के लिए वे बेतहाशा पीते थे। मुझे याद है, उन्होंने मा से एक दिन लड़ाई के दौरान कहा था—'तुम्हारे घर

से अधिक मकून तो मुझे ऊषा बाई के कोठे पर मिलता है।' उस दिन मा दिन भर पिता जी को गालिया देती और कोसती-काटती रही थी। घर में खाना भी नहीं बना। उस दिन पिता जी ने मुझे होटल मे खाना खिलाया था।'

जब पिता जी मृत्यु शय्या पर थे, उनके हलक मे आबे जमु-जम् का पवित्र जल टपकाया जाने लगा। उन्होंने उस पाकीजा जल को पीने से इनकार करते हुए दो घूंट शराब मांगी थी। मैंने तो चाहा था कि व्हिस्की के दो चमचे टपका दूँ; मगर बिरादरीवालों ने मुझे डांट-फटकार कर वहाँ से हटा दिया।

पिता की मृत्यु के तीसरे दिन उनकी आत्मा को शाति पहुँचाने के उद्देश्य से पांच फकीरों को भोज करवाया गया। भोज मे मरहूम के मन पसन्द पकवानों का विशेष ध्यान रखा गया था। कोरे बर्तनो मे फकीरो को भरपेट खाना खिला कर पाजामे, कुरते के लिए छह-छह गज नया कपडा भी भेंट किया गया, ताकि वहाँ परलोक में पिता की आत्मा को इसका पूरा-पूरा पुण्य प्राप्त हो। मैं चुपचाप यह तमाशा देखता रहा था। फकीर बराबर अपनी तोंदों पर हाथ फेरते 'बारकल्लाह' (ईश्वर अधिक दे) और 'मगफिरतुल्लाह' (ईश्वर क्षमा करे) के नारे लगा रहे थे। जब वे हलक तक खाना ठूस चुके और छह-छह गज कपड़ा बगल में दबा कर बाहर निकले, तो मैं लपक कर उनके पास गया और दस रुपये का एक नोट पेश करते हुए नम्रतापूर्वक हाथ जोड़ कर कहा—'शाह साहब ! रे पता अच्छे खानो के साथ शराब के भी बहुत रसिया थे। यह छोटी-सी रकम भेंट करता हूँ। इनका एक-एक पैग ले लीजिए कि मरने वाले की अंतिम इच्छा यही थी।' कहना न होगा कि फकीर बहुत नाराज हुए थे और मुझे बहुत बुरा-भला कहा था।

पिता ने जिंदगी में हजारो रुपया कमाया, मगर सब इस निर्दयता से उड़ा दिया, जैसे सारा रुपया सट्टे, रेस से प्राप्त किया हो। मेरे लिए जायदाद एव संपत्ति के नाम पर एक टूटा-फूटा मकान, स्थायी बीमार

माँ और बारह हजार रुपये का कर्ज छोड़ गये थे। कर्जदाता तो तकाजा कर-कर के और धमकियाँ दे दे कर हार गये। अलबत्ता यह सड़ा-गला मकान और जर्जर शरीर मां अब भी मेरे साथ है।

अगर गौर किया जाये, तो हम अपने लिए दस प्रतिशत भी नहीं जीते। हमारी नब्बे प्रतिशत जिंदगी दूसरों की इच्छाओं और फरमाइशों की पूर्ति में गुजर जाती है। मां के कथनानुसार मेरी शादी उसकी अंतिम इच्छा थी। एक आज्ञाकारी बेटे की तरह मैंने शादी कर ली, मगर अब उसकी यह इच्छा पूरी हुए आठ वर्ष बीत गये। उसकी इच्छाओं का सिलसिला बराबर जारी है। शायद इच्छाओं का कहीं अंत नहीं।

यह मेरी पत्नी है। यह उस वक्त की तसवीर है जब वह इस घर में दुल्हन बन कर आयी थी। गाय की तरह मासूम नजर आती है ना? आप ठीक कह रहे हैं, मगर शायद आपको उसकी नुकीली सींगें नजर नहीं आ रही है। श्रीमान, यह तो जूता पहनने वाला ही जानता है कि जूते की मेख कहाँ गड़ रही है। अब तो बहुत थल-थल और मोटी हो गयी है। 'तह-ब-तह चर्बी की तह।' इसे घर की चारदीवारी से बाहर का कुछ पता ही नहीं। स्त्री, एक पूर्ण घरेलू स्त्री होना भी कितने सुख की बात है। पत्नी का रोजमर्रा का कार्यक्रम बिलकुल निश्चित है, सबेरे उठना, उल्टा-सीधा खाना तैयार करना, इसके-उसके बहाने सास को दो-चार गालियाँ देना, बच्चों को डाटना-फटकारना और रात को पसीने से चिपचिपाता शरीर मुझे सौंप देना। और फिर करवट बदल कर बेखबरी की नींद सो जाना। चलिए सुरक्षित, सपाट और सीधी जिंदगी का एक और अध्याय समाप्त हुआ।

मैं शुरू में उसकी बदमिजाजियों और जनाना मूर्खता के कारण कुछ परेशान अवश्य रहा। मगर धीरे-धीरे अभ्यस्त हो गया। अब तो मुझे उस पर काबू पाने में वही आनन्द आता है, जो एक घुड़सवार को किसी प्रगल्भ घोड़ी को वश में करने में। हर औरत की तरह जेवर और कपड़े इसकी भी कमजोरी है। जिसका भुगतान मुझे करना पड़ता है। इसके

गले में यह चालीस ग्राम का मंगलसूत्र नजर आ रहा है ना, इसके लिए मुझे बड़े अपमान सहन करने पड़े हैं। साहब के आगे दुम हिला-हिला कर अपेक्षाकृत अधिक 'ऊपरी आमदनी' की कुर्सी हथियानी पड़ी। इसके लिए गुप्ता से हमेशा के लिए दुश्मनी मोल ली। फिर रुपया-रुपया, दो-दो रुपये की तुच्छ रकमों के लिए इसके-उसके गले पर छुरी फेरता रहा। यह मत समझिए कि मंगलसूत्र के बन जाने के बाद बीवी का प्रलोभन कम हो गया होगा। लोभ तो उम्र के साथ बढ़ता रहता है। हां, पत्नी मेरे प्रति बहुत वफादार है। मगर कोई भी कल्पना कर सकता है कि जो स्त्री शरीर से थल-थल हो चुकी हो, दूसरे पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता खो चुकी हो, वह अपने पति के प्रति वफादार न हो, तो क्या करे? मैंने कहा था न, वफादारी मनुष्य की अंतिम मजबूरी का नाम है।

पत्नी को संसार में दो चीजों से बेहद प्यार है। जेवरों से और बबलू से। बबलू हमारा सात वर्षीय बेटा है। लोगों का विचार है कि बड़ा सुन्दर है। नहीं, मुझसे उसकी कोई अनुरूपता नहीं। उसका रंग गोरा और आँखें नीली हैं। मैं इतना सुन्दर कहां हूं। मेरी पत्नी का खयाल है कि यह बड़ा होकर रिचर्ड बर्टन की तरह लगेगा। नहीं, नहीं, मेरी पत्नी का रिचर्ड बर्टन से क्या संबंध? कहाँ वह, कहाँ यह। मगर हाँ, मैंने उसे 'बेकेट' दिखायी थी। तब बबलू पेट में था। पत्नी को रिचर्ड बर्टन बहुत अच्छा लगा था। मुझे याद भी है, उस रात वह काफी भावनातुर थी।

बबलू सात वर्ष का हो चुका है। मगर पत्नी अब भी उसे गोद में बिठा कर खिलाती और रात को सीने से लगा कर सुलाती है। बहुत प्यार करती है वह बबलू को। कभी-कभी वह बबलू का मुँह इतनी बार चूमती है कि मेरे अंदर हल्का-हल्का ईर्ष्या का भाव जागने लगता है। मैंने 'बेकेट' के बाद से पत्नी को रिचर्ड बर्टन की कोई फिल्म नहीं दिखायी।

वह अक्सर कहती है, मेरा बबरू बड़ा होकर बहुत बड़ा ऐक्टर बनेगा। मैं कुछ नहीं कहता। मेरी मा भी तो बचपन में मेरे डाक्टर बनने के सपने देखा करती थी। सिवाय सपने देखने के मनुष्य के अधिकार मे होता भी क्या है? अन्य पत्नियो की तरह मेरी पत्नी को भी मेरे खानदान वालो से बेहद घृणा है। विशेषकर मेरे चचा और उनके परिवार से। पिता की मृत्यु के बाद चचा और उनके तीनों बेटे वर्षों इस टूटे-फूटे मकान के लिए मुझसे मुकद्दमेबाजी करते रहे। एक दफा उन्होंने मुझे गुडों से पिटवा भी दिया था।

नहीं, रिश्ते कहां खत्म होते है! रिश्ते तो जिन्दगी का बोझ हैं, जिसे मनुष्य जीवन भर ढोता रहता है। यह हो सकता है कि आप किसी मोड़ पर थक-कर सुस्ताने की खातिर थोड़ी देर के लिए उस बोझ को उतार दें, किन्तु फिर उसे उठाये हुए ही आगे बढ़ना होता है। यहां तक कि आप अपनी कब्र के मुहाने तक पहुंच जाते हैं।

पत्नी मेरे खानदान वालों के बाद मेरे मित्रों से बेहद नफरत करती है। मगर मुझे ये सारे मित्र बहुत अच्छे लगते है। मनुष्य बिना पत्नी, बिना परिवार के रह सकता है, मगर आप बिना मित्रों के जीने की कल्पना कर सकते हैं? शायद नहीं।

ये सारे मित्र, जो इस तसवीर में मेरे गिर्द खड़े है, इन सबसे मेरी बड़ी घनिष्ठ मित्रता है। पर मैं जानता हूं कि इनमे से कुछ तो किसी-न-किसी स्वार्थ के लिए मुझसे जुड़े हैं। कुछ वे है, जिनसे मैं अपने स्वार्थ के लिए बंधा हूं। ध्यान से देखें, तो हर दोस्ती की बुनियाद किसी-न-किसी स्वार्थ ही पर स्थिर नजर आयेगी। शायद दोस्ती इन्सान की अनगिनत आवश्यकताओ में से एक है।

मा, पत्नी, पिता, भाई, मित्र, रिश्तेदार, कितनी परछाइयां मेरे गिर्द मडरा रही हैं। मैं एक आईना बन गया हूं, जिसमें दूसरो के अक्स गड्डमड्ड हो गये हैं। बिंबों, प्रतिबिंबों के इस हुजूम मे 'स्व' को तलाश करने के प्रयास ने मुझे चूर-चूर कर दिया है। मैं एक आज्ञाकारी बेटा हूं, एक

सम्य पति हूँ, बाप हूँ, भाई हूँ, मित्र हूँ। मैं जो कुछ हूँ, दूसरों के माध्यम से हूँ। 'स्वयं' मैं कहीं नहीं हूँ। यह कैसी शोकाकुल स्थिति है कि दूसरों की साक्षी के बिना हमारा अस्तित्व एकदम अप्रामाणिक हो जाता है। कभी-कभी मुझे लगता है, मेरी हस्ती एक ऐसी पुस्तक है, जिसका मैं मात्र शीर्षक हूँ। पृष्ठ-दर-पृष्ठ खंगाल डालता हूँ। भीतर शीर्षक से संबंधित एक अक्षर नहीं मिलता।

कृष्णा : जन्म २६ दिसम्बर १६३० (कलकत्ता)। शिक्षा बी० ए० तक। अब तक लगभग तीस कहानियाँ छोटी-बड़ी अनेक पत्रिकाओं में प्रकाशित। जनवरी १६७६ में इनका एक कहानी-संग्रह 'एक कमजोर लड़की पागल सी' प्रकाशित हुआ है।

शरीर से परे

बड़ी लम्बी प्रतीक्षा के बाद मानसून को पहली फुहार सुहावनी और सुखदायी तो थी ही, साथ न जाने कितना पिछला इतिहास इन पानी भरे बादलों के बीच झाँक-झाँक कर उन खिड़कियों की चिटखनियों को खोल-खोल देता है, जिनमें जया की अनेक चलती-फिरती यादों की तस्वीरों को मैंने सहेज रखा है।

अम्माँ मुझे खिड़की के पास खड़े अनिमेष दृष्टि से पेड़ों की फिसलपट्टी से फिसलती लॉन पर इठलाती बूँदों को देखते देखकर उदास हो जाती है। उनका अन्दाज है तीस-इकतीस बरस का जवान बेटा शायद कुवांरेपन के कारण उदास है। और अम्माँ ही क्या, शायद सारे संसार की अम्माओं के मनोविज्ञान को यही गम सालता है। भले ही बहू से एक मिनट न पटे लेकिन 'चाँद सी बहू' कमाऊपूत को यदि जल्दी न मिले तो अड़ोस-पड़ोस, नाते-रिश्तेदारों को भी फिक्र हो जाती है। हो न हो लड़के में कोई ऐसा खोट है जिसके कारण कोई पूछता नहीं? फिर भला किस माँ को चैन मिलेगा···

मगर अम्माँ कुछ कहती नहीं, चुपचाप अन्दर शायद चौके में जाकर खटर-पटर शुरू कर देती है। उन्हें मालूम है मुझे ऐसे मौसम में सुरमई भाप उड़ाती चाय, और गरम चटपटे पकौड़े बहुत पसन्द हैं। बात में थोड़ी गलती हो गई, यह मेरी नहीं जया की पसन्द थी। हम दोनों ही उन पकौड़ों के साथ छुआन-छुपाई से लेकर युनिवर्सिटी की राजनीति, देश-विदेश

की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अवस्था तक पहुँचने तक भी अपनी आदत को नहीं रोक पाये थे। अक्सर हमारी बहस का तार सप्तक स्वर अम्मां को भी चौंका देता। उन्हें लगता शायद नौबत मारा-मारी तक पहुँच गयी है। घबरा कर मुझ पर गुस्सा होती, 'अजीब अहमक लड़का है, बीमार लड़की को सताता है ''।' लेकिन मैं ही कहां चुप बैठने वाला था, 'बीमार है तो हो लेकिन जो बहस करेगा उसे जरूर सुनना पड़ेगा। और फिर कहने को तो बीमार है, लेकिन बोलने में कौन सा कम है। राजधानी एक्सप्रेस की रफ्तार भी धीमी हो जाये शायद, लेकिन जया देवी ? राम भजो'''

पता नही क्यों मुझे इस मौसम में इस तरह सोचना अच्छा लगता है। बहुत अच्छा, शायद उतना ही जितना जया थी। अबकी बार अपनी 'एनुअल लीव' काफी लम्बी लेकर आया था। सोचा था, जया के साथ ज्यादा से ज्यादा समय बिताऊंगा। पर सामने के घर के सुनसान उदासी भरे वातावरण का जिक्र शायद अम्मां बाद में करती, किन्तु जगू को भला कहाँ चैन। उसने आते ही बताया, 'छोटे भइया, जया दीदी तो मरि गई'''। 'क्या'''अचानक के इस आघात पर इससे ज्यादा कुछ नही बोल पाया, अबूझ-सा चारपायी पर धम् से बैठ गया। साथी, मित्र, हमदर्द और एक बहुत प्यारा सा'''दुलारा'''दुश्मन'''

चाय आधी-परधी किसी तरह घुटकी और जया के घर चल पड़ा था। ऐसी ही बारिश वाली शाम थी। बाहर बैठके में ही जोशी चाचा, चाची, देवेश भइया सब बैठे थे। देवेश भइया ही बोले, 'आओ प्रशांत, कब आये ?'

'अभी-अभी बस'''लेकिन यह सब कुछ इतनी जल्दी मेरा मतलब है मैं तो उसे अच्छा-खासा छोड़ कर गया था ?' अपने ही मुँह से उसकी मौत की बात मुझे जाने क्यों सहन नहीं हो पा रही थी।

शायद मंजुला भाभी को मेरे आने की खबर मिली थी, लपक कर बाहर आयी'''हम दोनों की लड़ाई या बहसों में हमेशा वे 'कनेक्टिंग लिंक'

का काम करती थीं।

मंजुला भाभी ने मुझे देखते ही सिर झुका लिया। उनकी लाल हो रही नाक उनके दु:ख की दुहाई दे रही थी। लेकिन जोशी चाचा, चाची यहाँ तक कि हर वक्त जयी-जयी की रट लगाने वाले देवेश भइया तक··· कुछ ऐसे शांत थे मानो मनों बोझ दिल से उतर गया हो। माना कि जया पिछले दस साल से बिस्तर पर लगी हुई थी और उसका सारा काम चाचा या बसंत अथवा मंजुला भाभी को किसी परिचारिका के सहयोग से करना पड़ता था लेकिन···कुछ नहीं। कड़वा मन लिये बाहर निकल रहा था तभी चाची ने कहा, 'चाय नहीं पियोगे भइया ?'

'नहीं, पीकर आया हूँ,' कह कर टाल दिया। क्यों कठोर नहीं हो पाया ? शायद फ्राक पहने कोई लड़की गले से आकर लिपट गयी थी और मैं उसके साथ गुड़िया का बाप बन गया था ?

नर्सरी से लेकर बी० ए० तक साथ-साथ स्कूल जाना-आना। 'अक्कड़-बक्कड़ बम्बे पो' या सड़क के चिकने-चिकने पत्थर के गुट्टे छाँट-छाँट कर उसके फ्राक में भरना···रस्सी कूदना, लड़ाई होने पर उसके बाल नोचना, और जब वह किटकिटा हाथ काट ले तो तो क्या सब कुछ 'खतम हो गया।

अम्मां अक्सर चाची से कहती, 'जया की अम्मां, तुमने तो हमारे लड़के को भी लड़की बना डाला, गुस्सा होता है तो 'मार दूँगी' 'खाना नहीं खाऊँगी' बिल्कुल जया के जैसा ही बोलता है।'

जया फर्स्ट आयेगी तो क्या प्रशांत पीछे रहेगा। होड़ा-होड़ी दोनों अव्वल आयेंगे। ऐसे ही एक दिन स्कूल से लौटते किसी ने कहा था कैसी अच्छी जोड़ी है। 'सुना', कंधा झकझोरते हुए बोला मैं, 'कोई कह रहा है कैसी अच्छी घोड़ी है ?'

'इसका छिपा हुआ अर्थ भी है मूरखदास, और वह अर्थ है घोड़ी तो अच्छी है पर साथ में एक गधा चल रहा है···।' गधा आज भी है लेकिन घोड़ी···कहीं दूर बिदक गयी।

घर वापस लौट आया था। कमरे की खिड़की से उसका वह बरांडा दिख रहा है जहाँ कुर्सी अथवा चारपाई पर बसंत उसे गोद मे लाकर बैठा दिया करता था। बसन्त के न होने पर मैं भी उसे बिठा चुका था और फिर शुरू हो जाती थी हमारी अनन्त बहस। विषय ढूंढने की क्या जरूरत, दिन-रात किताबों और मैगजीन तथा अखबारो की खबरों मे सिर खपाये जया किसी भी विषय या टॉपिक पर अधिकारिक ज्ञान रखती थी। अपनी तो धज्जियाँ ही उड़ जाती थीं। लेकिन उससे बहस करना भी कितना दिलचस्प था···?

विषय शायद बांगला देश संघर्ष ही था। 'निहत्ये भूखे लोग मुकाबिला कब तक करेंगे यह संदेहास्पद लगता है,' कहते ही ऐसा बिगड़ी वह मानो मैंने कोई गाली दे दी उसको···

-- 'प्रशांत बाबू, सरकारी अफसर बन जाना आसान है। आत्मा और जीवन का लक्ष्य समझ पाना मुश्किल···पता नहीं तुम्हारी स्मरणशक्ति इतनी बोगस क्यों है कि इतिहास भी याद नहीं रहता···।'

-- और जब सब कुछ ठीक हो गया तो उसकी चिट्ठी मिली थी, 'तुम बाजी हार गये। यदि शरीर मे अपाहिज नहीं होती तो सौ किलोमीटर की दूरी नाप कर तुम्हारी गर्दन पर सवार हो जाती। खैर जब आओ तो मेरी जीत की मिठाई लेते आना। तुम्हारी हार का हिस्सा भी लगाऊँगी, आखिर तो तुमसा अजीज़ दुश्मन भी कहाँ मिलेगा···ज्यादा नही लिख सकती, हाथ दुखता है···'

मिठाई लेकर ही आया था। मजुला मामी से कह कर पहला हिस्सा उसने मेरा लगवाया था, 'अपने हाथ से खिलाती तुम्हें···लेकिन तुम्हारे भगवान ने मार रखा है,' कह कर मुँह आगे बढ़ा दिया, 'तुम तो मुझे खिला सकते हो।' थैंक्यू वेरी मच के साथ एक अद्भुत विजयोल्लास उसके एनीमिक पीले चेहरे पर तैर गया था। बादल की स्याह छाया ने आकाश का तीन चौथाई हिस्सा घेरकर एक चौथाई मे पानी भर दिया था, जया बड़े गौर से देख रही थी। मैं उठ कर उसकी चारपाई पर उसके पास

बैठकर उसकी ओर देखने लगा था।

'क्या देख रहे हो ?'

'तुम क्या देख रही हो, यही देख रहा था।'

'वह देखो पानी भरे बादल, जस्ट लाइक टियर-मिस्टेड स्काइ।'

'ताज्जुब है। अजीब हो तुम भी। कभी तो रियलिस्टिक और कभी इस हद तक भावुक और काल्पनिक कि बड़े-बड़े कवि भी घबरा जायें ?'

'तुम ठीक कहते हो प्रशांत, थोड़े दिन के बाद लोग तुम्हीं से पूछेंगे, क्या यही कहीं जया पगली रहती थी ?'

'थी नहीं है' मैंने जोड़ते समय सोचा ही कहाँ था कि कभी यह 'थी' में भी आ सकती है।

ऐसे ही 'टियरमिस्टेड स्काइ' के नीचे एक बार उसने गरम समोसे की बात कही थी और समोसे के साथ तर-बतर जब उसने मुझे देखा तो उदास हो गयी। 'सच प्रशांत, तुम्हें कितना सताती हूँ मैं, जब तुम्हारा ब्याह हो जायेगा तो तुम्हारी बीवी मुझे जरूर कोसेगी...'

'कोसने का काम करोगी तो क्या आशीर्वाद देगी ?' कहने पर कितना हँसी थी वह कि आँसू बह चले थे। अम्माँ भी बिगड़ीं, 'क्यों लड़की को रुला रहा है ?'

बी० ए० में दोनों का विषय अंग्रेजी साहित्य। यहाँ भी टकराव। मेरा मनपसंद कवि टामस हार्डी और जया शैली और कीट्स की दीवानी। ओड टू वेस्ट विंड, नेपिल्स के किनारे लिखे गये उसके निराश पद स्काइलार्क सब कंठस्थ।

रिजल्ट में जया ने बाजी मार ली थी। मुझसे पाँच नम्बर ज्यादा थे। यूनिवर्सिटी से घर तक सारा रास्ता लड़ती आयी, 'अब अपने टामस हार्डी से कहो वह तुम्हारा गम दूर करें।'

शाम अम्माँ ने मन्दिर में भोग लगाया। जोशियाईन चाची ने भी हनुमान जी का प्रसाद चढ़ाया और एक प्यारा सा आनंदी वातावरण दोनों परिवारों में चहक उठा था।

हम दोनों की ही समस्या थी एम० ए० किस विषय मे करना है। बात फिर गड़बड़ हो गयी। जया ने तो तय कर रखा था कि फिलासॉफी मे करेगी, हाँ मैं ही नही निश्चय कर पा रहा था। हम दोनों अपनी-अपनी साइकिल पर यूनिवर्सिटी, प्रास्पेक्टम और ऐडमिशन फार्म के लिए चल दिये। दोनों ने फार्म भरे, लेकिन दूसरे दिन जब उसे लिवाने गया तो डाक्टर पैरालिसिस डाइग्नोस करके आ चुका था। पूरे घर मे एक अजीब तनावपूर्ण सहमा-सहमा-सा वातावरण घुँधुआ रहा था।

जया बेहोश थी। मैंने फार्म दराज मे घुसेड़ दिया। साइकिल आँगन में टिका कर फिर उसके यहाँ चला गया था। शाम चार बजे होश आया। खतरा टल गया था। दाहिना हाथ, चेहरा और पैर पर सबसे ज्यादा असर था।

एक कमीज थी, रंग था हरा, जया उसे सुआपंखी, 'हरियल तोता' कह कर चिढ़ाती थी। दरअसल उसे हरे रंग से ही चिढ़ थी; और मैं था कि उसे चिढ़ाने के लिए उसे जरूर पहनता। एक दिन शाम अपने मैच से वापस आकर कमरे मे जैसे ही घुसा सामने मेज पर कमीज की कटी हुई कतरनें इकट्ठा रखी थी···एक स्लिप मे लिखा था, अब कैसे पहनोगे, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। यह बात शायद उस जमाने की है जब हम मैट्रिक में पढ़ते थे। कितना गुस्सा हुआ था मैं, उल्टे पाँव उसके कमरे मे जाकर खूब चुटिया खीची। रिबन निकाल कर सड़क पर फेंक दिया और उसकी गुलाबी चुन्नी ब्लेड से चीर दी थी। लेकिन फिर भी जब वह न रोयी तो धडधड़ाता वापस आ गया और अम्माँ से साफ कह दिया अब उस चुड़ैल को कभी घर मे न घुसने देना···। और आज वही प्यारी चुड़ैल मुझे बादलो से झाँक-झाँक कर चिढ़ाती जान पड़ती है। काश! हम फिर आमने-सामने बैठकर साथ झगड़ सकते···।

निस्संदेह मैं स्वार्थी हूँ क्योंकि अपने रीतेपन में उलझा हुआ हूँ। वरना उसका कष्ट और सहन-शक्ति की क्षमता मुझ जैसा अनाड़ी भला क्या समझेगा। पैरालिसिस के बाद ही तीसरे साल रयूमेटिक अटैक ने

शरीर के हर जोड को तोड़ने में असमर्थ होकर मरोड तो दिया ही था। अष्टावक्र, सिर्फ आठ जोडो मे टेढे थे लेकिन मेरी जया...मेरी आँखों में बार-बार आँसू बन कर तैर जाना चाहती है। क्रिकेट का वह मैच, जिसमे पैर मोच खा गया था और दर्द से तड़फड़ाते देख जया प्याज की पुल्टिस लेकर रात बारह बजे तक थोड़ा-थोड़ा अंतराल देकर सेंक देती रही थी और अपने घर तब गयी जब मुझे ऊँघाई आ गयी। दूसरे दिन सुबह लंगडा कर चलते देख फिर हँसी थी, 'लंगड़दीन बजाये बीन····'

रयूमेटिक फीवर और अटैक के बाद की दर्द की हालत देखकर पहली और आखिरी बार मैंने अम्मां के ठाकुर जी के सामने जाकर गिडगिडाते हुए कहा था, 'भगवान! इस मजबूर लडकी को भले ही अपने पास बुला लो लेकिन और न सताओ।'

मुझे अच्छी तरह याद है मुझे आई० ए० एस० की तैयारी करनी थी। इसलिए भले ही जया मुझे पास नहीं फटकने देती थी लेकिन सामने की किताब से उडकर ध्यान कब जया की चारपाई पर जा बैठता था यह मैं भी नही जान पाता था।

मैंने एक दिन उससे पूछा भी था, 'इतना सब कुछ तुम कैसे सहती हो, यही अक्सर मैं सोचा करता हूँ···।' उसका पीला चेहरा एकबारगी उदास हो, इसके पहले कुछ तीखे व्यंग्य से बोली वह, 'बात यह है कि तुम्हारे पास सोचने को कुछ है ही नही, कुछ नही तो कमबख्त जया ही सही, अच्छा एक गिलास पानी पिलाओ।'

उसे प्यास नही थी। सिर्फ मुझे अपने पास से हटाना चाहती थी क्योंकि टियरमिंस्टेड स्काई उसकी आँखो मे उमड़ा-उमड़ा पड़ रहा था और वह उसे जाहिर नहीं होने देना चाहती थी। उसका यह छिपा हुआ व्यक्तित्व जितना दिलचस्प और प्यारा था उससे कही ज्यादा कारुणिक और मर्मस्पर्शी। पानी लेने में मैंने जानबूझ कर देरी की ताकि इस बीच वह अपने को संयत कर लेने मे सफल हो जाये। एक घूंट पानी पिया था उसने कि गिलास वहीं पास रखवा लिया। फिर कुछ गहरी साँस खींच

कर बोली, 'प्रशान्त, इस तरह का सवाल मत पूछा करो, आखिर तो तुम जन्म से पुरुष हो, कठोर और शक्तिशाली होना ही तुम्हारा जन्मजात गुण होना चाहिए। लेकिन किसी की मजबूरी को उघाडना या कुरेदना भले दोस्तों का काम नहीं....'

उसका चेहरा देखकर यह कहने तक की हिम्मत नहीं पड़ी कि मैं तो अपनी मजबूरी पूछ रहा था। पिछले आठ साल से जो लड़की बिस्तर से लगी हो, पाखाना-पेशाब तक के लिए जिसे दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता हो, फिर भी चेहरे पर सहज मुस्कान का स्वाभाविक-सा मुखौटा लगाये रखना क्या आसान है ? सबसे बड़ी बात तो, उससे बहस के दौरान अक्सर मैं यह भी भूल जाता था कि वह एक लड़की है और वह तो थी ही ऐटमबम, सेर का सवा सेर जवाब हमेशा उसके पास तैयार रहता। डिप्टी-कलक्टरी के इन्टरव्यू के बाद उसने भविष्यवाणी की थी, 'प्रशान्त, तुम बेफिकर रहो, जरूर कलेक्टर हो जाओगे, अफसरी के लिए तुमसे बड़ा चुगद मर्चलाईट लेकर ढूंढने से भी नहीं मिलेगा, लेकिन देखो, सवा-सेर मिठाई और कुछ किताबों के सेट्स मेरी चारपाई पर चढ़ा देना....'

जब यादों की खिड़कियां खुल ही गयी हैं तो फिर, एक के बाद दूसरी उसे सहज ही ढकेलती और अपना रास्ता बनाती जा रही है। और खुद मुझे यानी प्रशान्त को लग रहा है, अच्छा है थोड़ी देर ही सही जया के पास बैठ लो, प्यारी बातें चाहे कितनी ही पुरानी हों हमेशा दिलचस्प लगती हैं। पिछली बार की भेंट में चलते समय उसने कहा था, 'प्रशान्त, यदि मैं मर जाऊँ तो कफन की जगह तुम किताबें ही रख देना मेरी लाश के साथ। फर्स्ट क्लास अफसर हो, इतना खर्च कर देना। वरना तुम्हारे चम्पा के पेड़ पर मेरी चुड़ैल बैठेगी और डर के मारे पूरी रात तुम थरथराते रहोगे। क्या समझे ?'....

मैंने सहम कर उसकी ओर देखा। और मजाक उड़ाते हुए कहा, 'वाह ! क्या बुद्धि पायी है, विवेक का तो जनाजा ही निकल गया है, जिसे किताबें प्रिय हों वह उन्हें जलाने की बात कहे ?' ...

'बात तो तुम ठीक कहते हो, मालूम पड़ता है तुम्हारी बुद्धि की छाया पड़ने लगी है। चलो छुटो तुम्हारा यह खर्च भी बचा। हो तुम पक्के कंजूस, हो न। अच्छा ठीक है पर मैं भी तुम्हें नहीं छोड़ूँगी।' सीढ़ी पर उतरते उसका 'गुडलक' सुनायी दिया था···बस···आखिरी शब्द;···

शरद्, रवीन्द्र, प्रेमचन्द, गोर्की, टालस्टाय के साथ जब मैंने कम्पलीट वर्क्स आफ शैली और कीट्स खरीदे तो सामने का टामस हार्डी उदास लगा।

यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी के लाईब्रेरियन ने पूछा था, 'आखिर किस इन्टेलेक्चुअल की च्वायस है, जिसकी याद में ये सेट्स आप 'डोनेट' कर रहे हैं?' मैंने पहले उसे घूरा फिर वही सवाल प्रश्नचिह्न बने, इससे पहले ही जल्दी से एक स्लिप में लिखा—जया सिर्फ जया···

लाईब्रेरी-कमेटी से पुस्तक स्वीकृति की सूचना लेते-लिवाते शाम हो गयी थी।

अम्माँ ने चाय लाकर रखी तो प्याला लेकर लॉन की ओर ही निकल गया। चम्पा का पत्तों और फूलों से लदा पेड़ बड़ा सुहावना लग रहा था। मन भी कैसा भावुक और बेवकूफी भरी बातों का संगम होता है। घिरते धुँधलके में पेड़ के ऊपर जबरदस्ती पीला चेहरा ढूँढता हूँ। शायद किसी फूल के रूप में ही हो जिसे बता दूँ, किताबें तो तुम्हारी याद में चढ़ाता रहूँगा किन्तु तुम यह पेड़ छोड़कर जाना नहीं। यहीं बैठकर दो बेवकूफ या प्यारे दुश्मन सुधियों के जल में एक दूसरे को झाँकते रहेंगे···। तभी अम्माँ आकर बत्ती जला देती है। 'नवम्बर आधा चढ़ चुका है, चल अन्दर, जो युद्ध हो चुका उसे भूलने की कोशिश करनी चाहिए। कितनी तकलीफ सही बेचारी ने, जरा-सी जान और पहाड़-सी मुसीबतें।' शायद अम्माँ की भी आँखें भर आयीं, 'भगवान उसकी आत्मा को शान्ति दे' कह-कर वे खाने की मेज लगाने में जग्गू को हिदायत देने चली गयीं।

अम्माँ ठीक कहती है, वास्तव में उसे असाध्य कष्ट था। शायद इसीलिए जीजिविषा वाली भी होकर सदा हमेशा जयी-जयी की रट लगाने देवेन सहसा सन्तुष्ट होकर बैठ गये। और भला इसलिए मैं सोचता हूँ कि उसे बहुत

पहले मर जाना चाहिए था, तभी जब बी० ए० का रिजल्ट आया था···

दूसरे दिन मैंने खटाखट कई सनैप उस चम्पा के पेड़ के ले लिये। प्रिन्ट तो मैं यहाँ से जाकर बनवा लूँगा।···एक दिन यहीं हम लोग मूनलाईट में खिचड़ी का डिनर ले रहे थे कि जया ने मुझसे पूछा था, 'डू यू नो, भौंरा कभी चम्पा के फूल पर नहीं बैठता···।' 'भौंरा इडियट है,' कहने पर कितना हँसी थी और हँसते-हँसते कहा था, 'जस्ट लाईक यू।'

पता नहीं शरीर और आत्मा का मृत्यु के बाद कितना सम्बन्ध रह जाता है। लेकिन जया को सिर्फ एक भौतिक सत्य के प्रमाण के रूप में सशरीर ही देखूँ ऐसा नहीं है···। उसके तर्क, उसकी हँसी, उसकी बातें और कसकती यादें सब कुछ इतना जबरदस्त सत्य है कि इन्हें जीवित रहते तो मैं नहीं भुठला सकता। मरने के बाद किसको क्या याद रहता है···?

रंजना ने आँसू पोंछ डाले और डायरी फिर वहीं दराज में रखने लगी तो एक चित्र गिर पड़ा। नितान्त ठठरी कंकाल मानो किसी ने कोई कपड़ा धोकर निचोड़ कर वैसे ही बिना फैलाये छोड़ दिया हो। दो बाहर को निकल पड़ रही टकटकी बाँधे आँखें···

चित्र डायरी में रख रही थी कि प्रशान्त का स्वर सुन पड़ा···वैसे तो किसी की डायरी नहीं पढ़नी चाहिए लेकिन शायद अब समझने में आसानी होगी। ठठरी वाली तस्वीर देखते-देखते जाने कहाँ डूब कर रंजना को लगा, एक अनजान स्वर कहीं दूर से आ रहा है—'शरीर ही सब कुछ नहीं होता, रंजना···।'

रामसरूप अणखी : आप पंजाबी और हिन्दी दोनों भाषाओं में लिखते हैं। पंजाबी में आपके चार कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। तथा हिन्दी में 'बातूनी लड़की' के नाम से एक कहानी-संग्रह १९७४ में प्रकाशित हुआ है। युवा-कथाकारों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है।

सफेद रात का ज़ख्म

उसने धूनी की लकड़ी को चिमटे से कुरेद दिया। दो-तीन छोटी-छोटी चिनगारियाँ लाल-पीली-सी चमक देकर राख पर गिर पड़ी। सेंक के पास बैठा होने के बावजूद शीत की कँपकँपी उसे छू गयी। मौत की-सी खामोशी उसके रोयें-रोयें को डस रही थी। तड़के-सवेरे ही लम्बरदार की बड़ी बहू आयेगी तो वह उसे क्या जवाब देगा?

मंगलदास की दाढ़ी में अभी तक एक भी सफेद बाल नहीं था। उसके चेहरे पर अभी तक एक भी लकीर नहीं उभरी थी। उसकी आँखों में पूरी चमक थी। उसके शरीर की गोलाइयाँ सख्त और मजबूत थीं। लम्बरदार की बड़ी बहू उस पर कुछ ज्यादा ही भूल आयी थी। वैसे तो लम्बरदार का बड़ा बेटा खासा हृष्ट-पुष्ट था, लेकिन कुदरत का खेल, वह अपनी पत्नी को कोई बच्चा नहीं दे पाया था। उस गाँव की लड़कियाँ, बूढ़ियाँ और बहुएँ सुबह के वक्त मंगलदास के टीले पर सीस नवाने आतीं। उनके साथ लम्बरदार की बड़ी बहू भी पन्द्रह दिनों तक आती रही। आज सुबह भी वह दूसरों से आँख बचाकर मंगलदास को कोई गुप्त संकेत कर गयी थी। फिर सबके साथ वापस जाते हुए वह क्षण भर के लिए मुड़ी थी और बहुत तड़के आने के लिए कह गयी थी। उसके पाँव छूते समय वह मंगलदास के पाँव का अँगूठा भी दबा गयी थी। वह तो सुन्न बना-सा बैठा रह गया था। एक शब्द तक उसके मुँह से नहीं फूट सका था। और अब आधी रात तक जागता और धूनी के पास बैठा वह इस चिन्ता में

मग्न था कि अगर वह आ गयी तो धरती के किस कोने में वह गर्क हो सकेगा।

जग्गा सुलफे की आखिरी चिलम पीकर कब का घर जा चुका था। योधू नाई टीले के सभी छोटे-मोटे काम निबटाकर धूनी से दूर, कच्ची ईंटों की ओट में कपास की टहनियों से बनी अपनी झुग्गी में टाट पर लाल गूदड़ लपेटे सो रहा था। तालाब के शान्त गहरे पानी में से एक मुर्गाबी निकली थी और पंख फड़फड़ाकर उसने टीले का एक चक्कर लगाया था। उसके बाद वह फिर पानी में गुम हो गयी थी। आसमान में पूरा चाँद बर्फ की तश्तरी की तरह तैर रहा था। टीले के पास के गेहूँ के खेतों पर दूधिया-सफेद चाँदनी उतर रही थी। जैसे एक सूरज डूबा हो, दूसरा चढ़ गया हो। सफेद रात की खामोशी ने मंगलदास को और बेचैन कर दिया था। चाँदनी की तीखी सुइयाँ उसके अंग-अंग को बींध रही थीं।

मंगलदास का जन्म जाटों के घर में हुआ था। छोटा-सा मंगल जानवर चराता था। तब उनके पड़ोस में अपनी मौसी के पास आयी उसकी हम-उम्र लड़की भी एक दिन खेत में आयी थी। रहट पर से पानी पीते हुए वह मंगल के मुँह पर पानी के छींटे फेंक गयी थी और पागलों की तरह हँसी थी। फिर तो जब कभी भी वे मिलते, चोर हँसी हँसते रहते। कभी-कभार कोई बात भी कर लेते। एक महीना रहकर वह अपने गाँव लौट गयी थी। दो साल बाद आयी तो जैसे वह पूरी गाय बन चुकी थी। ऊँचा कद, भरे-भरे अंग-पाँव, चलती तो धरती धसकने लगती। किसी काम से वह उनके घर आयी। अँधेरा घिर रहा था। वह लौटकर जा रही थी कि मंगल ने उसे दरवाजे में ही रोक लिया और कुछ भी आगा-पीछा सोचे-देखे बगैर उसने उसे बाँहों में घेर लिया। उसके शरीर में कोई मीठा-मीठा सेंक था। बेसुरती के आलम में मंगल ने उसे चूम लिया तो उसे यों लगा जैसे उसने पहले तोड़ की शराब का कोई गुनगुना-सा घूंट भर लिया हो।

इस बार तो वह चार-पाँच दिन ही रही थी। लेकिन इन चार-पाँच

दिनों में ही मंगल ने कोई अजीब संसार देख लिया था। उन्होंने पानी के चुल्लू भरकर कसमें खायी कि वे ब्याह करेंगे तो सिर्फ एक दूसरे से ही··· वरना···वरना···करेंगे ही नही···

और फिर चार-पाँच महीनों के बाद ही मंगल के कानों में सीतो के ब्याह से सम्बन्धित बातें पड़ने लगीं। एक दिन दोपहर की जोत छोड़कर वह घर आया तो एक बुढ़िया से उसकी माँ यही बातें कर रही थी।

सीतो ने अपनी माँ से कहा था और माँ अपनी बहन के पास आयी थी।

मौसी ने शरीकेबाजी का जिक्र किया था. और बहन को ठण्डी-गरम भी बातें कह डाली थी।

और फिर चारेक महीने और गुजर गये तो सीतो का रिश्ता किसी और जगह पर कर दिया गया। मंगल ने सुना तो मन. मसोस कर रह गया। ब्याह भी हो गया। सीतो का गौना भी हो गया। और फिर इस गाँव में वह कभी नही आयी।

एक दिन सारे गाँव को पता चला कि मंगल खेती का काम छोड़कर घर से निकल गया है। दो महीनों तक तो उसका कोई समाचार ही नही मिला। और फिर खबर आयी कि वह तो साधु हो गया है। गाँव से पचास मील दूर। वहाँ के डेरे के बारे में पूछकर उसका बाप उसे लाने गया। दो अन्य आदमी उसके साथ गये। लेकिन वह तो कुछ बोला ही नही था। मिट्टी की तरह सुन्न बना रहा था। न हँसता था, न रोता था। उन्हें लगा जैसे वह जन्म से ही कोई साधु हो। डेरे के महन्त ने उन्हें समझाया कि भई, यह तो वैरागी हो गया है। इस संसार से इसका कोई सम्बन्ध नही है। बाप रो-धोकर वापस लौट आया।

उस डेरे के महन्त ने एक और गाँव में भी अपनी गद्दी स्थापित कर रखी थी। योग्यता देखकर उस स्थान पर मंगलदास को भेज दिया गया। उस गाँव में पहुँचते ही मंगलदास की महिमा बन गयी। उस जैसा त्यागी साधु तो उस गाँव में कोई आया ही नहीं था। वह तो बड़ा करनी वाला

था। उसके बोल पूरे जरूर होते थे। औरत की तरफ वह झाँकता भी नहीं था। माया का उसे कोई मोह नहीं था। वह तो आठों पहर भजन-बन्दगी में मग्न रहता। उसके टीले पर बूढ़े आते, जवान और अधेड़, जवान और अनब्याहे, सभी आते। लड़कियाँ, बुढ़ियाँ और बहूएँ भी आने लगीं।

चार साल से वह उस गाँव में रह रहा था। टीला गाँव के बाहर था। मंगलदास को लगता जैसे यह संसार तो नाशवान है, यहाँ की कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। परस्पर के सभी रिश्ते-नाते झूठे हैं। परमात्मा का नाम ही सच्चा है। लेकिन कभी-कभी उसे महसूस होता कि यह संसार तो योग्य वस्तु है, मान्य पदार्थ है। साधु होकर मनुष्य बहुत बड़ा पाप करता है, जीवन से धोखा। ऐसे पलों में उसे औरत की जरूरत महसूस होती। कभी-कभी तो बड़ी शिद्दत से। वह सोचता, अगर एक सीता नहीं मिली तो जिन्दगी को धक्का तो नहीं दे देना चाहिए। किसी एक को लेकर मरने की क्या जरूरत है। वह नहीं और सही। उसका जी चाहता कि साधुगीरी छोड़कर वह ब्याह कर ले, और मनुष्यों जैसी सहज जिन्दगी व्यतीत करे।

एक बार तो उसकी यह मनोदशा कई दिन उसका पीछा करती रही। और फिर वह इस फैसले पर पहुँचा कि स्त्री-भोग एक सार्थक नाम है। इन्हीं दिनों उस गाँव की एक भर-जवान लेकिन छुट्ड लड़की से उसका शारीरिक सम्बन्ध हो गया। लड़की खुद ही किसी अंधड़ की तरह आकर मंगल-दास से टकरा गयी थी। जाने किस वजह से उसके खाविंद ने उसे मायके में छोड़ रखा था। कामाग्नि से अंधी हुई वह किसी मर्द की तलाश में थी। सो, मंगलदास से उसका मेल हो गया था। और मंगलदास की आध्यात्मिकता दुनियावी विचारों में तबदील होकर रह गयी। दिखाई देने वाला संसार एक हकीकत बन गया। आँखें तभी खुलीं जब वह लड़की गर्भवती हो गयी।

मंगलदास को घबराहट हुई। गाँव में उसका कितना मान-सम्मान

है। वह तो देवता स्वरूप साधु माना जाता है। चौथे महीने ही तिनकों के नीचे दबी आग भड़क उठी। पता नहीं क्यों, वह अपना गर्भ गिरवाने को भी तैयार नहीं थी। साफ कहती थी कि वह मंगलदास के पास जाया करती थी। जो भी सुनता, दाँतों में अँगुली दबा लेता। इस बात पर विश्वास ही न होता। सभी कहते—लड़की झूठ बोलती है। जाने किसका पाप खरीद बैठी है। साधु को तो बिना बात बदनाम कर रही है।

उन्हीं दिनों के दौरान, मंगलदास ने बेहद घबराहट और हताशा के प्रभाव के तहत, एक रात उस्तरे से अपने गुप्तांग को काट डाला। फिटकरी वाले पानी में पट्टियाँ भिगो-भिगो कर बाँधता रहा। पेशाब करना होता तो पट्टी खोल लेता, वरना सारा दिन, सारी रात पट्टियाँ बदलता रहता। और फिर धूनी की गर्म-गर्म राख ने पाँच-सात दिनों में ही उसके जख्म को भर दिया।

पंद्रह-बीस दिनों तक गाँव में चख-चख चलती रही और फिर एक दिन दस आदमी उस लड़की को साथ लेकर टीले पर आये। 'बोलो! क्या यह तुम्हारी करतूत नहीं है...।' उन्होंने मंगलदास से कहा।

मंगलदास ने कोई जवाब नहीं दिया। सिर्फ लँगोटी खोल कर खड़ा हो गया।

वे सब जाने क्या सोच कर आये थे। सबके सब चुपचाप घर को लौट गये।

मंगलदास गाँव के भीतर तो पहले भी कभी नहीं जाता था। अब तो खैर क्या जाता। उसके श्रद्धालु, टीले पर ही आते थे, सीस नवाते थे, घुटने दबाते थे और चढ़ावा चढ़ा कर लौट जाते थे। लेकिन जो भी कोई आता था, उसके चेहरे की ओर देखता रह जाता था। टीले के पास से गुजरने वाले लोग उसके साथ घटी इस घटना की चर्चा करते। उनकी कोई बात कभी मंगलदास के कानों में भी पड़ जाती। अब उसे यह चर्चा मार रही थी।

उस लड़की को उसके माँ-बाप ने कहीं और बैठा दिया था। तीन

महीनों बाद उसने बर्फ सा गोरा-चिट्टा लड़का जन दिया। जहाँ वह बैठायी गयी थी, वह आदमी उम्र के उतार पर था और अकेला था। वह तो इसी बात से खुश था कि उसके घर में औरत आ गयी है। लड़का भले ही किसी के बीज का हो, माना तो उसी का जायेगा।

अब मंगलदास इस बात को लेकर सोचता रहता कि यह अनहोनी क्यों कर दी। हाँ कह देता तो जटाओं को सिर से उतार कर फेंक देता और उसे ब्याह कर गाँव ले जाता। बाप भी खुश, माँ भी खुश। उसने तो अपनी जिंदगी ही बरबाद कर ली। इससे तो मौत ही बेहतर थी। वह सोचता रहता, भीतर ही भीतर घुलता रहता। अपनी अक्ल को लानत भेजता। किसी भी श्रद्धालु से आँख न मिलाता। कभी भूल से किसी की ओर झाँक भी लेता तो उसे लगता जैसे देखने वाला उस पर तरस से भरी तेजाबी पिचकारियाँ मार रहा हो। बहुत निराश, उदास, बेदिल होकर उसने वह गाँव छोड़ दिया।

अब उसने इस गाँव के पश्चिम की ओर, बड़े तालाब के दक्खिनी कोने में पुराने वक़्तों के एक आवे को साफ करवा कर अपनी कुटिया बनवा रखी थी। आवा तो अब उसे कोई कहता ही नहीं था, सभी मंगलदास का टीला ही कहते।

इस गाँव में वह पिछले सात साल से रह रहा था, उसने अपने मन को समझा लिया था। अपने पास आने वाले लोगों को वह गृहस्थ आश्रम में रहकर परमात्मा के पास होने की शिक्षाएँ देता। बुरे कार्यों से उन्हें रोकता। शराब-अफीम के अवगुण बताता। दवा-बूटी भी देता।

वह किसी औरत की तरफ आँख भर कर झाँकता भी नहीं था। शरारत उसकी आँखों में कभी नहीं आती थी। उसकी जिंदगी तो एक जनखे की जिंदगी थी। लेकिन इस बात का पता गाँव में किसी को भी नहीं था। यह गाँव उस गाँव से सौ मील दूर था। मंगलदास की जन्म-भूमि से भी साठ-सत्तर मील दूर। उधर का तो कोई आदमी कभी इधर आया ही नहीं था।

पता नहीं, लंबरदार की बड़ी बहू का दिल मंगलदास पर कैसे आ गया था।

वह उसे क्या बताता अपने मुँह से?

रात आधी से ज्यादा जा चुकी थी। चाँद टीले से थोड़ी दूर खड़े ऊँचे नीम की पीठ पीछे जा खड़ा हुआ था। गोबू नाई अपनी झुग्गी में पड़ा धीरे-धीरे साँस ले रहा था। मंगलदास ने धूनी की आग को एक बार फिर झकझोर दिया। इस बार कोई चिंगारी नहीं भड़की। लगता था आग सो गयी है। मंगलदास खड़ा हो गया। उसके मुँह से अलख निरंजन नहीं निकला, वरना वह जब कभी भी धरती से खड़ा होता था तो अँगड़ाई लेकर अलख निरंजन पुकारता था। अब तो उसने अँगड़ाई भी नहीं ली थी। उसने देखा, तालाब के किनारे के साथ-साथ कोई परछाईं टीले की ओर बढ़ती आ रही थी। पास आने पर उसने साफ देखा, वह लंबरदार की बड़ी बहू ही थी। हाथ में लोटा था। दूध से भरा होगा! गरम चादर उसने लपेट रखी थी।

एक कँपकँपी मंगलदास के शरीर को छू गयी। पल भर में वह जाने क्या सोच गया। उसने लंबरदार की बहू की तरफ फिर नहीं झाँका। एकाएक वह भागा और उसने तालाब में छलाँग लगा दी। पिछले साल की तालाब की मिट्टी को खोदकर नया पानी डाला गया था। जहाँ उसने छलाँग लगायी थी, वहाँ तो हाथी भी डूब सकता था। लंबरदार की बहू के मुँह से दबी-सी चीख निकल गयी। अपने कल्पित भविष्य पर एक गहरी खरोंच लगवाकर वह उन्हीं पैरों वापस घर की ओर लौट गयी। गोबू नाई को कुछ पता नहीं चला। झुग्गी में लेटा वह धीरे-धीरे साँस ले रहा था।

दिन चढ़ा तो मंगलदास की लोथ तालाब के ठिठुरे हुए पानी में पूरा कुप्पा बनी तैर रही थी।

प्रेम दीवान : पहले आप उर्दू में लिखते थे और उर्दू की पत्रिकाओं में भी खूब छपे हैं। पांच छः वर्षों से आपने हिन्दी में लिखना शुरू किया है। कहानियों के अतिरिक्त आपने एक उपन्यास 'कहीं छाया नहीं' भी लिखा है, जोकि अभी-अभी सितम्बर १९७६ में प्रकाशित हुआ है। इनका दूसरा उपन्यास भी शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

विद्रोह

लछमी देवी ने मोटर फाइनांस कार्पोरेशन के दफ्तर में कदम रखा तो निराशा ने उसे फिर से घेर लिया। लगा कि जैसे आज भी काम नहीं बनेगा। जैसे पिछले कई दिनों से हो रहा था। न बड़े साहब मिलते थे, और न स्टाफ कुछ सुनता था।

मगर वह जब अन्दर पहुँची तो चपरासी ने खबर दी कि साहब दफ्तर में ही थे। उसके आने की सूचना भी वही उन्हें दे आया। साहब शायद व्यस्त थे। थोड़ी देर प्रतीक्षा करने को कहा था। यह अवहेलना लछमी देवी को चुभी तो सही, लेकिन वह पी गई। वह बस इतना चाहती थी कि कपूर साहब उसे वह उत्तर न दें जो पिछले कई दिनों से उनका स्टाफ दे रहा था।

सप्ताह पहले जब वह आई थी तब भी कपूर साहब दफ्तर में नहीं मिले थे। अपने आने का मुद्दा उसने एकाउन्टेंट को बयान किया, तो उसने एक घंटा लेक्चर देकर उसे समझाया कि उसे उसका कम्पनी में जमा किया हुआ रुपया नहीं मिल सकता था। कारण यह था कि जयपुर और हिसार की दो पार्टियों ने कम्पनी का कई लाख रुपया दबा लिया था। इधर बैंक से लोन नहीं मिल रहा था। नतीजा यह निकला था कि रुपये की सर्कुलेशन रुक गई थी। असल तो असल वह आजकल ब्याज देने में भी असमर्थ थे। स्टाफ को तनखाहें भी पूरी नहीं मिल रही थीं।

यही सब सोचती हुई लछमी देवी रिसेप्शन में रखे सोफे पर बैठ गई। अपनी हैसियत के अनुसार सोफे के किनारे पर बैठी थी। गरीब थी। तन का पहनावा भी वैसा ही था। पुराना देहाती लिबास। फिटे छींट की शलवार-कमीज, ऊपर सर ढकती हुई मलमल की ओढनी और हाथ में पकड़ा घर का बना थैला। सूरत भी वैसी थी। निढाल चेहरा और निराश आँखें।

वह अपनी उधेड़-बुन में थी, कि चपरासी उसे बुलाने आया। उसके साथ कपूर साहब के केबिन में पहुँची। कपूर साहब अब भी व्यस्त थे। मोटे-मोटे लेजरों में उलझे हुए थे। उन्होंने मुख से नहीं कहा। हवा में हाथ झुला कर लछमी को बैठने का इशारा किया। फिर काम भी करते रहे और मतलब की बात भी कही।

'आप तो शायद पहले भी दफ्तर में आती रही हैं', उन्होंने पूछा।

लछमी देवी ने इकरार किया, और शिकायत भी की कि एकाउन्टेंट ने उसे टका सा जवाब दे दिया था। लेकिन उसे रुपए जरूर चाहिए क्योंकि उसने लड़की की शादी तय कर दी थी। विवाह को केवल बीस दिन रह गए थे।

कपूर साहब कुछ क्षण सोचते रहे। फिर कुछ ढीली, नम्रता भरी आवाज में उत्तर दिया, 'मैं बहुत शर्मिंदा हूँ, बहन जी। डिपाजिट की रकम तो हम नहीं दे सकेंगे।'

लछमी देवी को यह उत्तर गोली की तरह लगा। जिस आधार पर आशा थी, वही जब खिसक गया तो उसके लिए खड़ा रहना मुश्किल हो गया। बहुत मुश्किल से उसने अपने को सँभाला और बोली, 'मेरी दशा तो आपसे छुपी हुई नहीं है, कपूर साहब। सरोज के विवाह को बस बीस दिन रह गए हैं। मैं इस समय रुपया नहीं, यूँ समझिए आपसे मदद माँगने आई हूँ। आपको एक विधवा की असीस लगेगी। यदि मैं आज इतनी मजबूर न होती तो कभी न आती। लेकिन क्या करूँ, जिस थम पर मान करती थी वह जब गिर गया तो मेरी भी कमर टूट गई।'

कपूर साहब समझ गये कि वह किस स्तंभ की बात कर रही थी। वह अपने लड़के के बारे में कह रही थी। लेकिन उनका व्यापार जिस भँवर में था और कम्पनी की डांवाडोल स्थिति देख कर डिपाजिटर जो दुख भरी कहानियाँ सुना कर रुपया माँगने आते थे, उन सब ने लछमी देवी की अपील को इस कदर मामूली कर दिया था कि कपूर साहब पर इसका कोई विशेष असर नहीं हुआ था। वह अपने काम में फिर से व्यस्त हो गए थे; और तटस्थ आवाज में उत्तर दिया, 'मैं मजबूर हूँ, बहन जी। हमारे पास रुपया नहीं है। जब है नहीं, तो दें कहाँ से। क्या फायदा होगा। आपकी तसल्ली के लिए आपको चेक दिलवा दूँ, लेकिन वह डिमानर हो जाए। मेरे पास रुपये होते तो मैं उन्हें आपके घर पहुँचा देता। आपको यहाँ आने का कष्ट ही न देता···।'

मगर लछमी देवी भी शायद बहुत मजबूर थी। इस तरह खाली हाथ वापिस जाने को तैयार नहीं थी। उसने अपनी आवाज में फिर जोर भरा और मिन्नत भरे लहजे में बोली, 'आपका काम तो चलता रहेगा। आज कुछ मन्दा है तो भगवान की कृपा से कल फिर फले-फूलेगा, मगर मेरी लड़की का विवाह तो रुक नहीं सकता···'

'ओ···हो····' कपूर साहब ने तुरंत कहा, 'आप कुछ समझती क्यों नहीं। अगर मेरे पास रुपये होते तो मुझे आपकी यह बातें सुनने की जरूरत ही नहीं थी। मैं तुरंत आपको पैसे लौटा देता। लेकिन मेरे पास पैसे नहीं हैं। मैं मजबूर हूँ। अब आप जाइए। मुझे और भी बहुत से काम करने हैं···।'

ये कड़े शब्द सुने तो लछमी देवी का मुँह इतना सा निकल आया। आँखें भर आईं। अब और कोई चारा नहीं था। वह उठ खड़ी हुई, और अपनी ओढनी से आँखें पोंछती बाहर निकल आई।

लछमी देवी की कपूर साहब से जान-पहचान उस समय से थी जब पाकिस्तान बनने के बाद वेस्ट पटेल नगर में दोनों को साथ-साथ क्वार्टर मिले थे। वह उस समय भी विधवा थी और अपने दो बच्चों—एक

लड़का तथा एक लड़की के सहारे जिन्दा थी। कपूर साहब के बच्चों की तरह उसके बच्चे भी छोटे थे और स्कूल में पढ़ते थे। लछमी देवी बड़ी हिम्मत से दूसरों के कपड़े सी कर घर का गुजर चलाती थी।

कपूर साहब उन क्वार्टरों में ज्यादा अर्सा नहीं रहे थे। उनका मोटर फाइनांस का व्यापार जल्द ही चल निकला था। वह निजामुद्दीन वेस्ट में कोठी बनवा कर वहाँ शिफ्ट कर गए थे। लेकिन उस थोड़े समय में ही कपूर साहब की छोटी लड़की उमा और लछमी देवी के बच्चों में खूब गहरी मित्रता हो गई थी।

फिर एक अर्से बाद, आज से तीन वर्ष पहले, वह अपने लड़के के साथ उनकी कोठी पर आई थी। उस समय उसके लड़के को देख कर कपूर साहब चकित रह गए थे। खूब लम्बा और स्मार्ट निकल आया था। मिलेट्री में कमीशन मिल गया था। उन दिनों खड़गवासला की ट्रेनिंग के अंतिम वर्ष में था। लछमी ने कुछ जोड़ी हुई पूँजी और बाकी जेवर बेच कर पाँच हजार रुपये जोड़े थे। चाहती थी इनका कुछ अच्छा सूद मिलता रहे तो बढ़े हुए खर्चों में कुछ राहत मिले। इस काम के लिए कपूर साहब की कम्पनी याद आई। वह उनकी कम्पनी में अपना रुपया जमा करना चाहती थी। कपूर साहब ने सहर्ष उसके रुपये स्वीकार कर लिए।

इस सारे समय में लछमी देवी को बराबर सूद मिलता रहा था। वह स्वयं भी कभी-कभी दफ्तर आ जाया करती थी। लेकिन आज से साल भर पहले जब आई तो शक्ल बावरी हुई-हुई थी। मालूम हुआ कि हिन्द-पाक लड़ाई में उसका बेटा भी फ्रन्ट पर था, और शहीद हो गया था। पहले वह लापता घोषित किया गया था। लेकिन लड़ाई खत्म होने के बाद जब बन्दियों की लिस्ट में उसका नाम नहीं मिला, तो यही मानना पड़ा ··

यही वह दिन थे जब कपूर साहब का व्यापार ठन्डा पड़ने लगा था। जयपुर की एक पार्टी ने ट्रक खरीदने के लिए उनसे रुपया लिया था। पहले वहाँ से किस्तें आती रही थीं, फिर उस पार्टी ने अपने आप को

दिवालिया घोषित कर दिया। इससे कपूर साहब का दो लाख रुपया फँस गया था। इस झटके को वह संभाल ही रहे थे कि हिसार की एक पार्टी ने किस्तें देनी बन्द कर दी। यूँ ही खामखाह का झगड़ा खड़ा कर दिया था। मामला अदालत में था। दीवानी मुकदमा था, फैसला इतनी आसानी से कहाँ होना था। मगर कपूर साहब का इसमें डेढ़ लाख रुपया फंस चुका था। फिर और झटके लगे। देखा-देखी एक के बाद एक और पार्टियों ने भी उनकी कम्पनी द्वारा कर्ज दिए गए रुपयों को दबाना शुरू कर दिया। फलस्वरूप, देखते-देखते उनका पाँच लाख रुपया दब गया। व्यापार में रुपये की सर्कुलेशन रुक जाये तो व्यापार अपने आप ठंडा पड़ने लगता है। कपूर साहब के साथ भी यही हुआ था। लेने वालों की तादाद दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई थी, और देने की अवस्था क्षीण होती चली गई थी। अब तो बैंक ने उनकी लोन-एप्लीकेशन भी नामंजूर कर दी थी।

और जबकि कम्पनी की हालत काफी खस्ता हो चुकी थी, आज से पन्द्रह दिन पहले लछमी देवी भी अपना असल माँगने आई थी। उसने अपनी लड़की की शादी तय की थी, और इसके लिए उसे रुपये चाहिए थे।

कपूर साहब के केबिन से बाहर आने के बाद लछमी देवी दो कदम ही आगे बढ़ी थी कि उसे आवाज सुनाई दी, 'मासी जी...!'

लछमी देवी ने दृष्टि ऊपर उठा कर देखा। सामने उमा खड़ी थी। कपूर साहब की लड़की।

कितनी बड़ी हो गई थी। तीन साल पहले जब उसे कपूर साहब के घर देखा था तब उसके चेहरे पर लड़कपन था। लेकिन अब वह जवान हो गई थी। उसकी सरोज की तरह। लछमी देवी ने अपने आप पर काबू पाकर उसे असीस दी।

उमा अपनी मौसी का हाथ पकड़े सोफे पर ले आई, और वहाँ बिठा कर पूछा, 'क्या हाल है, मासी जी।'

'ठीक है, बेटी', लछमी देवी ने मरी हुई आवाज में उत्तर दिया।

'सरोज का क्या हाल है ?'

'उसकी तो शादी तय की है....।'

'सच ! कब ?'

'बस, बीस दिन और रह गए हैं....।'

उमा ने एक क्षण सोचा, फिर व्यथित स्वर में बोली, 'इतनी जल्दी तय कर दी ?'

लक्ष्मी देवी प्रश्न का आशय समझ गई। जिस बहन के भाई को मरे साल भी न हुआ हो, उस बहन को विवाह कैसे अच्छा लगता था। ठण्डी साँस भर कर उत्तर दिया, 'अब अपने आप पर भरोसा नहीं रहा था, बेटी। डाल पर सूखे पत्ते की तरह तो लगी हूँ। न जाने कब हवा का झोंका उड़ा ले जाए। सोचा, यह काम अपनी आँखों के सामने हो जाए तो मरते समय चैन होगा....।'

उमा खामोश रही। जानती थी— ऐसे समय सांत्वना के शब्द गाली की भाँति लगते हैं। फिर, एकाएक जैसे याद आया, 'यहाँ कैसे आई थी ?'

लक्ष्मी देवी कई क्षण नहीं बोलीं। आखिर जैसे रहा नहीं गया, बोलीं, 'अपने रुपये लेने आई थी....।'

'और डैडी ने देने से इन्कार कर दिया क्या ?'

लक्ष्मी का गला भर आया। मुँह से उत्तर नहीं निकला, बस, हाँ में सर हिला दिया।

इतने में बड़े साहब का चपरासी सामने आ खड़ा हुआ, और उमा से बोला, 'आपको बड़े साहब ने बुलाया है। बोलते हैं जरूरी काम है फौरन आइए....।'

उमा उठ खड़ी हुई। उसके साथ ही लक्ष्मी देवी भी उठने लगी, तो उमा ने उसे बैठने का इशारा करते हुए कहा, 'आप बैठी रहिए, मामी जी। मैं डैडी से बात करती हूँ। आप ऐसे नहीं जाना।'

उमा अपने डैडी के केबिन में घुसी ही थी, कि कपूर साहब नाराज होते हुए बोले, 'तू कहाँ उसके साथ जुड़ी बैठी है। बड़ी मुश्किल से तो

मैंने उसे दफा किया था…।'

'मैंने उन्हें रुकने के लिए कहा है डैडी।' उमा ने भी उसी तरह तेज उत्तर दिया।

'क्यों?…'

'डैडी, लक्ष्मी देवी के केस को हम औरों की तरह ट्रीट नहीं कर सकते—वह बेचारी…।'

कपूर साहब का मुख तन गया। कठोर आवाज में बोले, 'कोई बेचारी-वेचारी नहीं। किसी की आँखों में आँसू देखकर अगर हमने रुपये वापिस लौटाने शुरू किए, तो चार दिन बाद आफिस को ताला लगाना पड़ेगा…।'

मगर उमा भी दृढ़ थी। अपने बाप की तरह उत्तर देते हुए बोली, 'उसके सरकमस्टांसिज डिफरेंट हैं, डैडी। उसने अपने नौजवान लड़के को देश के लिए खोया है। इस औरत का कलेजा देखिए कि वह यह सदमा सहन कर गई। शायद अपनी लड़की का विवाह करना चाहती थी। क्या हम उसकी इतनी सहायता भी नहीं कर सकते…।'

'बिजनेस इज बिजनेस…', कपूर साहब ने बिगड़ कर कहा, 'हमारे पास रुपया है कहाँ?'

'हमारे पास तो बहुत रुपया है। कोठी है, कार है, लाकर में सोना है, मेरे नाम अलग से बैंक में फिक्सड डिपाजिट है। क्या और भी सोर्स बताऊँ?…'

कपूर साहब को जैसे आग लग गई। गोली की तरह ठाय से बोले, 'शट-अप, तुम बेहद बदतमीज हो गई हो…।'

मगर उमा भी बोलती गई, 'क्या जरूरत है किसी को देश के नाम अपने बेटे, अपने भाई और अपने पति की आहुति देने की। क्यों न वह भी हमारी तरह व्यापार करे, दूसरों का रुपया हड़प करके कोठियाँ बनवाए, कारें रखे…।'

उमा तो इसके बाद भी बहुत कुछ बोली थी। मगर कपूर साहब ने

फिर उसे नहीं टोका था। वह मुन्न रह गए थे। यह लड़की जो उनके सामने जबान तक नहीं खोलती आज इतना कुछ कह रही थी। वह भी उनके सामने, और उनके दफ्तर में···।

आखिर में वह चेतावनी देकर चली गई थी। वह कह गई थी—यदि आज लछमी देवी को रुपये नहीं दिए गए, तो कल वह अपने जेवर और निजी सामान बेच कर उसके रुपये उसके घर दे आएगी। लेकिन उस पर यह जुल्म कभी बर्दाश्त नहीं करेगी।

कपूर साहब काफी देर तक उसी मुद्रा में बैठे रहे थे। उस समय उन्हें अपने पिता जी के शब्द याद आ रहे थे। वह अक्सर कहा करते थे—जब औलाद बगावत पर उतर आए तो यह हर्गिज नहीं सोचना चाहिए कि वह गलत है। बल्कि, उस समय अपना अन्दर झांक कर देखना चाहिए, कि मुझमें क्या कमी है···।

शिव शर्मा : जन्म २५ दिसम्बर १९३८ (राजगढ़, मालवा में)। सम्प्रति माधव महाविद्यालय, उज्जैन में राजनीतिशास्त्र के प्राध्यापक। इन्होंने अपने लेखन के माध्यम से समाज में व्याप्त छल और अन्धविश्वासों पर काफी तीखे प्रहार किये हैं। अभी तक आपने कम ही लिखा है, परंतु कुछ कहानियां काफी चर्चित हुई हैं।

अपना ही श्राद्ध

चक्रतीर्थ के घाट पर पंडों की पंगत श्राद्ध खाने में प्रतियोगिता कर रही है। आधा-आधा किलो के चुनरी के लड्डू पत्तलों पर गिरते ही साफ हो जाते हैं। उनके मुँह से, आगे निकल जाने की होड़ में चीख़े निकल रही हैं। वे एक-दूसरे को बकअप कर रहे हैं...रेस में भाग ले रहे खिलाड़ियों की तरह। सदा की तरह मेरे पिता पंगत के अन्त में बैठे हैं। सत्तर वर्ष की दुबली-पतली देह में लाल आँखें बाहर निकली जा रही हैं। पंजों पर बैठने के कारण देह कांप रही है और हर्निया की बीमारी से आगे वजन लटका हुआ है। दूसरे पंडे उन्हें खिजा रहे हैं और वह खीज कर लड्डू निगलते जा रहे हैं। मैं दूर से देख रहा हूँ। मेरा मुँह शकर की कड़वाहट से भर जाता है। मुझे ग्लानि होती है। काश, अपने पिता को यहीं शिप्रा में डुबो पाता! किन्तु मेरी माँ और उसके छोटे-छोटे बच्चों का ध्यान आ जाता है।

मेरे जन्म के बाद मेरे पिता ने हर वर्ष बच्चे पैदा किये हैं। मैंने जब से होश सँभाला, मेरे पिता को कभी माँ से बात करते नहीं देखा। बस, हर वर्ष माँ को बच्चे जनते हुए देखा है। पैसे के अभाव में अस्पताल नहीं जाया जाता और घर पर ही माँ एक दाई की सहायता से मेरे पिता की हवस को बच्चों के रूप में एक के बाद एक जनती गयी। दोनों का इस

बीच गहरा झगड़ा रहता है, मगर इससे क्या, बच्चे पैदा करना और बात है।

मेरे पिता घाट के पंडे हैं। शिप्रा के घाट पर बित्ता भर बैठने की एक सीट पर उनका पुश्तैनी अधिकार है। वह उस पर आज भी जाकर बैठते हैं, जैसे कोई मुसाफिर शयनागार में सिटिंग सीट बुक करा के बैठा हो। मुझे वहाँ बैठने से नफरत है। अब सिवा निमन्त्रण के वहाँ कुछ मिलता भी नहीं। मेरे पिता डाक्टर के मना करने के बाद भी भोजन का धन्धा छोड़ते नहीं।

सभी जवान, मुस्टंडे पंडे उन पर हँसते हैं। मैं अपनी आँखें बंद कर लेता हूँ। यह मेरा क्लाइमेक्स है। मैं घृणा से जलने लगता हूँ और जलती हुई चिता देखने लगता हूँ।

एक यजमान मेरे पिता की पत्तल पर रुक जाता है और लड्डुओं का ढेर लग जाता है। मेरे पिता की मना करने की शक्ति चुक गयी है। उनका पेट तंबू-सा फूल रहा है। मगर वह खाये जा रहे हैं। मैं शर्म से गड़ा जा रहा हूँ और अन्य पंडे हँस-हँस कर मेरे पिता का लड्डू खाना देख रहे हैं। पेटू पंडों में मेरे पिता का सबसे ऊँचा स्थान माना जाता है।

मैं उन्हें दूसरों की सहायता से उठाता हूँ। उनकी टाँगें एक दूसरी से उलझ गयी हैं। वे काँप भी रही हैं। मैं उनके पैरों को सीधा कर जमीन पर टिकाने का प्रयत्न करता हूँ। वे बार-बार फैल जाती हैं और वह गिरते-से लगते हैं। मुझे रोना-सा आ रहा है। इच्छा होती है, जलती हुई चिता में फेंक दूँ। चारों तरफ के व्यंग-ठहाकों को भी पी जाता हूँ। उनके सूखे-से हाथों को अपनी गरदन के पास लपेटता हूँ और सहारा देकर ठेलने का प्रयत्न करता हूँ। थोड़ी दूर जाने पर वह होश में आते हैं। मैंने सदा की तरह जहर थूकते हुए कहा—इतना क्यों ठूँसते हो? मरना है, तो हँसी करा के क्यों मरते हो? तुम्हें शकर की बीमारी है। एक आंत धरती पर लटक रही है। महीनों से बुखार है। और तुम अभी भी लड्डुओं पर मर रहे हो! तुम्हारी जान अटकी है! तुम मरते

क्यों नहीं…! मैं फफक-फफक कर रो पड़ता हूँ।

मेरे पिता के अधखुले मुख से अब लार टपकने लगती है। मुझे घिन आती है। मेरी बुश्शर्ट गंदी हो रही है। कालेज जाने लायक एक ही बुश्शर्ट है। वह भी माँ ने बनवा दी। किसी अमीर यजमान ने कपड़ा भेंट में दिया होगा। किसी तरह घर आता हूँ और पिता को उनके गंदे बिस्तरे पर गिरा देता हूँ। बिस्तरे में से मीठी-कसैली बू उड़ने लगती है। मेरी इच्छा होती है कि माँ से कहूँ कि फिर कभी बाप को लेने भेजा तो शिप्रा में कूद कर आत्महत्या कर लूँगा, मगर…।

पिताजी चीखते हैं और माँ को पुकारते हैं—कहाँ मर गयी! राँड! हरामजादी! जल्दी लोटा ला! क्या तेरा बाप मर गया, जो क्रिया-कर्म कर रही है?

बच्चों के लिए खाना बनाते-बनाते माँ आती है और जल कर कहती है—क्रिया-कर्म तो तुमने जीवन भर किया है, अब मरते हुए मेरा कर रहे हो। खुद मुक्खड़ की तरह पेट भर आते हो, बच्चों को पैदा कर मेरे सिर पर छोड़ दिया है। इनको भी ले जाया करो पंगत में; मेरा नास मिटे! वह उन्हें उठा कर घर के पीछे ले जाती है और ईंटों की बनी मुड्डी पर बिठा देती है। बच्चे रोटी के लिए चीख रहे हैं और मैं पागल-सा हो जाता हूँ…हे भगवान, कहाँ पैदा कर दिया!

तुमने अभी तक रोटी क्यों नहीं बनायी? माँ से झुँझला कर पूछता हूँ।

घर का रिवाज है, बारह बजे तक निमंत्रण की प्रतीक्षा करो, वरना कहीं पहले खाना बन जाये और निमंत्रण आ जाये, तो तेरा बाप मुझे लड्डू की तरह फोड़ कर खा जाता है! माँ की बात गले उतारता हूँ और चप्पल पहन कर कालेज भागता हूँ।

कुछ वर्षों पूर्व तक मेरा घर सुखी था। पिता जवान थे और धंधा खूब चलता था। वह सिर पर त्रिपुंड लगाये, पगड़ी पहने, हाथ में डंडा लिये, घाट पर बैठते थे कि यजमान खिंच कर चले आते। प्रतिदिन निमंत्रण भी

आते और पूरा परिवार छक कर भोजन करता; वह भांग का गोला लगाते और खूब नींद निकालते। संध्या को उठ कर रेलवे स्टेशन जाते। कभी-कभी मैं भी उनके साथ होता।

रेलवे प्लेटफार्म पर सब खड़े हैं···अपने वंशानुगत डब्बे की प्रतीक्षा में कुली, चवन्नी की फिराक में पुलिस का जवान, चार आने के हार लिये कार्यकर्त्ता अपने नेता के स्वागत में, किराये पर लाये गये इन सबसे दूर अपनी लाठी और मूँछों को तेल पिलाये मेरे पिता खड़े हैं। वह टकटकी लगाये ग्राहक को सूंघ रहे हैं।

घंटों लेट आयी एक गाड़ी से एक यजमान उतरता है। उसके हाथ में एक पुटलिया है। वह मुँह फाड़ कर प्लेटफार्म देखता है। मेरे पिता उसके पास जाकर बोलते हैं—आओ, जजमान! तुम्हारे पिता के पिता का श्राद्ध भी हमने ही किया था। अब तुम्हारे पिता का भी हम ही करेंगे। इसी बीच दूसरे पंडे भी पास आते हैं और ग्राहक को फुसलाने का यत्न करते है। मगर मेरे पिता की पकड़ गहरी है। बीच में यजमान है और आस-पास पंडे। यजमान की कमीज फट गयी। पगड़ी गिर गयी। मगर हाथापाई के बाद मेरे पिता ने उसे जीत ही लिया। वह प्रसन्नता में नारे लगाते हैं—शिप्रा मैया की जै! हम उसे घर लाते हैं और ताले में रखते हैं। क्या पता, कोई उसे फुसला कर ले भागे! कभी बाहर निकला, तो सस्ते दाम बताकर दूसरे पंडे उसे भगा ले जा सकते हैं। पिता यजमान को समझाते हैं—अकेले बाहर न जाना। जमाना खराब है।

यजमान चाय पी कर आश्वस्त हुआ—महाराज, चिंता न करो। हमारे पिता की आत्मा खुश होगी कि उनका सराध भी आपके हाथों होगा।

मेरे पिता ने पुराने वही-खाते निकाल कर बताया कि उसके पिता पर कुछ कर्ज बाकी है। जब तक वह पूरा नहीं हो जाता, श्राद्ध होना संभव नहीं। मैं रात को यजमान को फिल्म दिखाने भी ले जाता हूँ। पैसे भी वही देता है। मैं भी प्रसन्न हूँ।

दूसरे दिन से क्रिया-कर्म प्रारंभ हो जाते हैं। नवें दिन अस्थिकर्म होता है। पिता क्रिया-कर्म का सामान किराये से लेने में जुट जाते हैं। यजमान नाई के समक्ष गरदन झुकाये बैठता है। नाई कहता है—तुम्हारे पिता का मुंडन भी मैंने किया था। अच्छे आदमी थे। पांच रुपये भेंट दिये थे।

हमारे गांव में चार आने में मुंडन होता है! यजमान बोल पड़ा।

वक्त की बात है, मुफ्त में भी हो सकता है! नाई ने अपना हाथ तेजी से चलाया।

यजमान को लगा कि उसका सिर ही उतारा जा रहा है। वह बोला—तुम्हारा उस्तरा भोथरा है।

नाई ने झल्ला कर कहा—तुम्हारे सिर पर घोड़े के बाल हैं! कभी-कभी तेल भी लगा लिया करो! वह सिर झुका बैठा ही रहा।

उधर पिताजी ने किराये का सामान जमा कर लिया था "पुराने जूते, इत्र की शीशी, पुराने-वस्त्र, ये सब कई आत्माओं के काम आ चुके थे। इनका किराया भर चुकाना होता है। एक बंडल चर्खा छाप बीड़ी का और खिजाब की शीशी बाजार से खरीदी गयी थी—मृतात्मा को ये विशेष पसंद थी। पिण्डदान हो जाने के पश्चात् मेरे पिताजी ने यजमान से कहा कि अब वह गऊ-दान भी करे।

वह बोला—मेरे पास तो गाय क्या, गधा भी नहीं है!

प्रतीक में ही कर दो। यह लो मिट्टी की गाय। इसे दान कर दो। इसके पैसे बाद में देते रहना। तुम्हारे पिता ने भी यही किया था। मेरे पिता ने मार्ग निकाला। पाने पर कर्ज नोट कर लिया। अब उसके स्नान की बारी थी। वह नदी में कूदने गया और इधर जैकेट गायब। लोग समझाते हैं कि जब पिता चले गये, तो बंडी का क्या है!

यजमान बोला—महाराज, आपके पैसे कहां से चुकाऊंगा?

मेरे पिता ने आश्वस्त किया—हम कब काम आयेंगे! कर्ज डूबता नहीं, चढ़ जाता है। वह जन्म-जन्मान्तर तक चलता है। तुम नहीं दे

पाओगे, तो तुम्हारे बेटे आयेंगे ।

दसवें दिन दसहा होता है । ग्यारहवें दिन एकादश तथा बारहवें दिन बारहवाँ होता है । सर्वापिंडी श्राद्ध पर ठाठदार भोजन होता है । वह भूखा रह कर भोजन परोस रहा है । उसके पिता ने भी कभी इतना स्वादिष्ट भोजन नहीं किया होगा ।

अंत में एक नाव पर बैठ कर वह अपने पिता की अस्थियों को विसर्जित करने हेतु नदी में जाता है । अचानक नाव हिलने लगती है । नदी शांत है, फिर यह तूफान दैविक होगा । मेरे पिता ने समझाया, तुम्हारे पिता की आत्मा को पिशाचात्माएँ घसीट रही हैं । उधार में ही नहीं, एक भेड़ की बली और कबूल करवा ली गयी ।

वे पिताजी के अच्छे दिन थे । जब से वह वृद्ध और बीमार हुए हैं, यजमान आना बन्द हो गये हैं । हट्टे-कट्टे पंडे स्टेशन से ही उन्हें भगा ले जाते हैं । मैं कुछ सीख नहीं पाया । अब तो घर पर निमंत्रण भी कभी-कभार ही आते हैं । मेरे पिता अपने कमजोर शरीर पर झुंझलाते हैं । गुस्से में अधिक खाने लगे हैं । अब वह कभी-कभी निमंत्रण में इतना खा जाते हैं कि चलना कठिन होता है । अधिक मीठा खाने से शक्कर बढ़ गयी है और उधर हर्निया के कारण बेहद चिड़चिड़े हो गये हैं । जिस दिन निमंत्रण नहीं आता, वह दरवाजा खोलकर चिल्लाते रहते हैं, शाम तक खाना नहीं बनता और वह दिन भर चीख-चीख कर माँ और बच्चों को खाते रहते हैं ।

कभी-कभी थोड़ा-बहुत सीधा मिल जाता है । वह पंजों के बल, बिल्ली-से बैठते हैं और तब तक खाते रहते हैं, जब तक सब खत्म नहीं हो जाता । खाना खत्म हो जाने पर वह माँ पर थाली फेंक देते हैं और गालियाँ बकने लगते हैं । वह तब तक चीखते रहते हैं, जब तक कि उनके मशीन-से जबड़े अपने आप ही चलना बन्द नहीं हो जाते । वह कमजोरी से काँपने लगते हैं और बेहोश होकर गिर जाते हैं । माँ रोती हुई पड़ोसी के घर चली जाती है और बच्चे रोते हुए गली में चले जाते हैं । मैं पुस्तक

लेकर घाट पर चला जाता हूँ।

घाट पर अपनी पुश्तैनी सीट पर नहीं बैठता। वहां बैठने से लाभ भी नहीं। मुझे क्रिया-कर्म करना भी नहीं आता। मैं मनोरंजन के लिए औरतों के घाट पर नजर घुमाता हूँ। कनखियों से देखता हूँ अधनंगी औरतो को स्नान करते हुए, हिलते हुए नितंब सुरसुरी-सी मचा देते हैं। एकाध कसे स्तन वाली भी दिख जाती है। कुछेक के सुडौल बदन पर नजरें गड़ जाती है। उनके गीले अंगों के कटावों मे वस्त्र चिपक गये है। और मुझे लगता है कि मेरे कपड़े चिपक गये है। मैं पुस्तक में ध्यान लगाता हूँ कि एक व्यक्ति निमंत्रण देने चला आता है। मैं सुन कर प्रसन्न हो जाता हूँ। वह मेरे पिता का नाम लेकर निमंत्रण देता है—उन्हें जरूर लाना होगा।

मैं घर की ओर भागता हूँ···पिताजी को निमंत्रण का सु-समाचार देने। उन्होंने कई दिनो से श्राद्ध नही खाया है। उनके चेहरे पर लड्डू का नाम सुन कर एक दयनीय भाव उभर आता है। घर मे सन्नाटा है। माँ बाहर गयी हुई है। पिता अपने गंदे बिस्तरे मे बड़बड़ा रहे हैं। वह क्रिया-कर्म के श्लोक पढ रहे है। वह पिंड-दान कर रहे है। वह हवन करा रहे हैं। अपने हाथों को अग्नि की ओर ले जा कर 'स्वाहा' बोल रहे हैं। उनका शरीर जल रहा है। वह पुनः पकवानों के नाम बकने लगते हैं। मैंने उन्हें आवाज देना चाही। वह शात हो जाते है। मुझे देख कर वह हाथ जोड़ते है। लगता है, वह मुझे यजमान समझ रहे है। वह मुझे कुछ खाने का इशारा कर रहे है और एकाएक पूरे कमरे में बदबू का बगूला फैल जाता है। मेरी माँ पास आकर चीख पड़ती है। मेरे छोटे भाई-बहन अनाथ हो जाते हैं। विरासत में मिला तीन बाई तीन का चबूतरा, शिप्रा के घाट पर, जिससे मुझे नफरत है, और भाई-बहनों की लम्बी फौज, जिनके पेट पालना है।

मेरी माँ ने घर का सारा सामान बेच कर पिता का श्राद्ध कर दिया। हट्टे-कट्टे पंडों की पंगत बैठी है। ठहाके लग रहे हैं। मेरे पिता के संस्मरण चल रहे हैं। लोग लड्डू निगल रहे हैं। मैं नीची गरदन किये अपने

पिता को स्मरण करता हूँ। मुझे लगता है कि वह पंगत में आ कर बैठ गये हैं······पंगत के आखिरी सिरे पर। वह नीची गरदन किये खाये चले जा रहे हैं······अपना ही श्राद्ध। लोग उन पर हँस रहे हैं। उनकी आखें बाहर निकली जा रही हैं। वह कांप रहे है। उनका पेट फूलता जा रहा है। उनकी कमजोर टांगों के बीच हर्निया की आंत लटकती जा रही है। लोग उन पर ठहाके लगा रहे हैं और वह लड्डू निगलते जा रहे हैं। उनकी आँखों में आँसू है। यह देख कर मेरे हाथ की थाली गिर जाती है।

जितराम पाठक : शिक्षा एम० ए० पी-एच० डी० । सम्प्रति महर्षि विश्वामित्र महाविद्यालय, बक्सर के प्राचार्य । हिन्दी के अतिरिक्त आप भोजपुरी में भी लिखते हैं । अब तक कई कहानियाँ, कविताएँ एवं ललित-निबन्ध प्रकाशित । आपकी कुछ रचनायें काफी महत्वपूर्ण मानी गई हैं और वे चर्चित भी हुई हैं ।

जाल

मैं फिर बॉस की कोठी पर नहीं गया । यह दूसरा बुलावा था ।

पहली बार मेरे एक अत्यन्त आत्मीय मित्र बॉस का सलाम लेकर मेरे पास आये थे । बॉस किसी को अपने यहाँ नहीं बुलाते । लोग यों ही उनके यहाँ जाते रहते हैं । उनके बुलावे से मेरे प्रति मित्र की नजरों का कोण बदल गया था । उनकी नजरों में मैं बहुत ऊँचा उठ गया था । उनकी आँखों में मेरे प्रति बहुत आदर-भाव छलक आया था ।

दूसरा बुलावा बॉस के पर्सनल सेक्रेटरी, जो वहीं क्लर्क थे, के माध्यम से आया था । लोहा पारस छू कर कंचन हो जाता है । पिद्दी से पर्सनल सेक्रेटरी भी इस पारस से महत्वपूर्ण हो गये थे । पर्सनल सेक्रेटरी का अदब और रोब बॉस से कम किसी भी हालत मे नहीं था । सभी बॉस की तरह उनसे भी डरते थे । उन्होंने तनिक मुलायम लहजे मे, जो उनका स्वाभाविक स्वर न था, कहा था, साहब एक जरूरी काम से आपसे मिलना चाहते हैं । साफ था कि किसी गोपनीय वार्ता के प्रसंग मे ही मुझे बुलाया गया था ।

पहली बार की तरह मैंने बॉस का दूसरा बुलावा भी टाल दिया ।

तीन-चार दिनों के बाद बॉस ने मुझे दफ्तर में बुलाया । मैंने दिमाग पर बहुत जोर डाल कर बुलाने का कारण सोचना चाहा, लेकिन मैं सोच न पाया । होगा कोई काम ? लेकिन किसी बेकार-सी बात पर

डाँटने लगे तो क्या होगा। एक भय मेरे भीतर उग आया। उसे मैंने झटका देकर बाहर निकालना चाहा। शायद तब भी, मैं मुक्त नहीं हो पाया। मैं डाट नहीं सह पाऊँगा। और लोग भले सहें। मैं बाहर से पूर्ण शान्त था, गो कि जूते में उभरी कील की तरह भय चुभता रहा।

बॉस कागजों में उलझे हुए थे। उन्होंने मेरे आने की नोटिस नहीं ली। उनकी नजरें उठने की प्रतीक्षा में मैं एकटक उनका मुँह देखता रहा। वे बहुत देर तक व्यस्त रहे। मरियल शरीर में दर्प, ओज और क्रोध कितना हो सकता है, इसका अनुमान मैं करने लगा। उनका सूखा चेहरा मेरी आँखों में प्रश्न की तरह टिक आया, जिसका समाधान मुझे नहीं मिल रहा था। उनका क्रोध शायद मुझ पर उभर आये। इस विचार से पंखे की तेज हवा में भी मेरे शरीर पर पसीने की बूँदें उग आयीं। मैंने गंदा-सा रूमाल निकाल कर चेहरे को पोंछा। सारा शरीर चिपचिपा हो गया था।

अन्तिम कागज पर रिमार्क लिख कर बॉस ने कलम रख दी और घंटी बजायी। मेरी ओर उनका ध्यान नहीं था। वे जानबूझ कर मेरी उपेक्षा कर रहे थे कि मैं आतंकित होऊँ। उनका ध्यान खींचने के लिए मैंने तनिक ऊँचे स्वर में उनका अभिवादन किया। सूखे-मरियल शरीर पर ठहरा हुआ सिर तनिक झटके से उठा। उसमें प्रणाम स्वीकारने या अस्वीकारने का कोई भाव प्रकट नहीं हो पाया। यह बॉस की खूबी है। जिससे नाराज रहते, उसका प्रणाम नहीं लेते। उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता को सहज ही मापा जा सकता है। मैंने ठीक ही अनुमान लगाया कि बॉस मुझसे रूठे हैं।

मैंने उनकी अप्रसन्नता का कारण ढूंढना चाहा, लेकिन कोई कारण मेरे दिमाग में नहीं आया। शायद बुलावा टालने के कारण वे नाराज हों, लेकिन इससे संस्था के काम से क्या मतलब हो सकता है? भय की एक हल्की-सी छुअन मुझे सिहरा गयी।

बॉस ने चपरासी को बुलाया और एक गिलास पानी का आर्डर

दिया। पानी के दो-चार घूँट भर कर उन्होंने उड़ती नजरों से मुझे देखा और कहा, 'आप आजकल बहुत व्यस्त रहते हैं।'

'जी, ऐसी कोई बात नहीं है।'

'हूँ।'

हुंकारा मेरी हड्डियों में व्याप गया। मैंने मन को कड़ा करने की चेष्टा की। पसीने की बूँदें फिर मेरे मस्तक पर उभर आयीं। एक अजीब लिसलिसेपन में मैं डूब गया। मुँह का स्वाद कुछ कसैला हो आया। मैंने थूक निगलने की कोशिश की, लेकिन गला खुश्क हो गया था। इच्छा हुई, चपरासी को बुला कर एक गिलास पानी मँगाऊँ; लेकिन ऐसा नहीं कर सका। शायद मैं बेहद डर गया था।

थोड़ी देर ठहर कर बॉस ने कहा, 'आपके खिलाफ कई पत्र आये हैं।'

पत्र? मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। इस लम्बी कार्यावधि में यह बात मैं पहली बार सुन रहा था।

बॉस फिर कागजों में डूब गये। मैं घुटन से बहुत पीड़ित होने लगा।

मेरे खिलाफ कौन पत्र लिख सकता है? माना कि मैं रिजर्व्ड रहता हूँ, हल्की बातें करने को लिफ्ट नहीं देता, लेकिन मेरे काम से सभी संतुष्ट रहे हैं। हास्य, व्यंग्य और विनोद की छौंक से मैं गंभीर से गंभीर विषय को अधिक सरल बना देता हूँ। इससे लोगों के मन में मेरे प्रति विश्वास और श्रद्धा ही दिखी है। कौन शिकायती पत्र लिख सकता है, मैं सोच नहीं पाया।

खन्ना साहब की बात सहसा याद हो आयी। उन्होंने कहा था, बॉस कुछ लोगों को 'पेट' बना कर रखते हैं। उनसे वे हर तरह का काम लेते हैं। किसी के खिलाफ शिकायत कराना, किसी को भी अपमानित कराना बॉस के बायें हाथ का खेल है। उस समय खन्ना की बात का विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि संस्था का प्रधान इस निम्न सीमा तक नहीं जा सकेगा। आज सारी बात कौंध गयी। बिजली का करेंट मुझे छू गया। एक असह्य बेचैनी मैं महसूस करने लगा।

एक पल के लिए बॉस का ध्यान फिर मेरी ओर हो आया। शायद वे मेरी परेशानी का अंदाज लगा रहे थे। अगर मैं घबरा उठता तो बॉस को बहुत प्रसन्नता होती, लेकिन मुझे बाहर से शान्त देख उन्हें बड़ी चोट लगी होगी। मैंने उनकी आँखों में झाँका। सहसा मेरे मुँह से निकल गया, 'क्या मैं ये पत्र देख सकता हूँ?' मैं घबरा गया था।

मेरी घबराहट का आनन्द लेने के अन्दाज में हँसते हुए उन्होंने कहा, 'कान्फीडेन्शियल चीजें दिखायी नहीं जातीं। उन्हें केवल अधिकारी ही देख सकते हैं।'

'जी ...' मैं कुछ और घबरा गया था। लेकिन मेरी घबराहट भीतर की थी, जो शब्दों में आ रही थी।

'हाँ, मैं आपसे कई बार कह चुका कि थोड़ा काम की ओर भी ध्यान दीजिये। यही हमारी ड्यूटी है। अगर हम उसे ठीक से न करें तो कुछ-न-कुछ करना ही पड़ेगा। मैं अपनी ड्यूटी कैसे छोड़ दूँ? लगता है कोई चारा नहीं है।'

तो बॉस की ड्यूटी षडयन्त्र करना है, शान्ति से काम करने वालों को परेशान करना है। ठीक है, करें। मेरे भीतर नसें तन आयीं। उमस, घुटन और भय न जाने कब खत्म हो गये। मैंने दृढ़ लहजे में कहा, 'आपने कभी मेरे काम के बारे में कोई शिकायत नहीं की, और न ही कभी मुझसे इस सम्बन्ध में कुछ कहा है। हवाई शिकायतें आप अधिकारियों तक पहुँचाना चाहते हैं तो पहुँचाइये। विचारवान लोग सच और झूठ समझ जायेंगे।' शायद मैं काँप रहा था। मैं दफ्तर से बाहर आ गया। मैंने इस बात की बॉस पर हुई प्रतिक्रिया नहीं देखी। मैंने पसीना पोंछा और अपने काम पर आ गया।

झूठी बात की तरह यह घटना सब जगह फैल गयी। कई सहयोगियों ने मेरी पीठ थपथपायी। आज तक किसी ने बॉस की बात का इस तरह जवाब नहीं दिया था। दब्बू और दरबार में हाजिरी देने वाले किस्म के लोगों ने कानाफूसी की, 'अब देखना, बॉस इन्हें कैसा मजा चखाते हैं?

सुर्खरू बनने चले है । दो दिनों मे आटे-दाल का भाव मालूम पड जायेगा। बॉस से उलझना जल में रह कर मगर से बैर करना है। हम तो भई, यह गलती कभी नही करेंगे।'

फुसफुसा कर कही गयी बातों में सचाई थी। बॉस का जवाब देने वालों को नौकरी से जवाब दे दिया गया। ऐसे कई लोगों को नौकरी छोडकर जाने को लाचार कर दिया गया। हर दिन की परेशानी आखिर कोई कब तक सहेगा ? इसीलिए बॉस से कोई निर्भीक नही हो पाया। सभी डरते हैं। बाल-बच्चेदार आदमी रोजी को सबसे बडा धन समझता है। उसे बचाने के लिए अपमान भी वह सहता है। रोजी बचाने वाले कर्मचारी बॉस की बाते सहते रहे है। मैं भी परिवार वाला हूँ। लेकिन मै सोच नही पाता कि कैसे मैं इतना निर्भीक हो सका ? अकेला होकर कोई उदाहरण पेश करने की मेरी मंशा कतई नही थी।

इस घटना के बाद मैं हीरो बन गया। आज तक जिन्होंने मुझे महत्त्वहीन समझ कर मुझसे कोई बात नही की थी, वे भी अनेक शिकायतें मेरे पास लाने लगे। मेरी निर्भीकता ने छूत के रोग की तरह मित्रों को ग्रस लिया था। दब्बू और कमजोर लोगों में भी मेरी निर्भीकता ने एक आस्था कायम कर दी थी। बंद-नाले को मैंने अपनी हिम्मत से खोल दिया था और उससे एक बहाव के साथ पानी चल निकला था। शिकायतों को उठाने का वातावरण मिल गया, बॉस अवश्य ही इस छूत की बीमारी से परेशान होंगे, लेकिन शिकायतें रोज-रोज उभरने और बढने लगीं।

इस बीच धंसी छाती और पिचके गाल वाले बॉस ने हमारे बुजुर्ग सहयोगी माथुर साहब को आडे हाथों लिया। उन्होंने बेवजह माथुर को डांट पिलायी थी,'माथुर साहब, आप लोगों का काम करने से कोई मतलब नहीं है। बच्चे पैदा करना, उन्हें खिलाना, बीबी की फरमाइशें पूरी करना, सिनेमा देखना, खुशगप्पियों मे दिन गुजार देना, आप लोगों का काम रह गया है। आप लोगों को बडी प्यारी खुशफहमी है कि आप लोगों जैसा योग्य आदमी चिराग ले कर ढूंढने से भी नही मिलेगा। मैं सोचता हूँ, ऐसे लोगों

के साथ क्या किया जाय कि वे अपना कर्तव्य समझें ?'

माथुर साहब साप्ताहिक हाजिरी देने बास के बँगले पर गये थे। मजा यह कि कई बाहरी आदमियों के सामने बॉस ने अपने सहयोगियों के आचरण की यह प्रशंसा सुनायी। माथुर गमले के करोटन की तरह सब सुनते रहे। उनकी लीडरी का स्वांग उस दिन सब पर जाहिर हो गया। माथुर साहब इतने बेहया न थे कि अपनी दुर्गति का बयान करते चलते, लेकिन बात सबको मालूम हो गयी। सभी उनके मुँह से सारा जायजा सुनने को आतुर थे, लेकिन माथुर ने चुप्पी साध ली। बहुत हुआ तो कहा, 'अब कौन उलझने जाय। बॉस के मुँह लगना ठीक नहीं है।'

जिन बातों की ओर कोई ध्यान नहीं देता था, क्योंकि वे दैनिक जीवन की घटनाएँ हो गयी थी, वे महत्वपूर्ण समाचार बन गयीं। पता लगा, बॉस ने मेहता को अपने दफ्तर से निकलवा दिया, क्योंकि वे चटक रंग का टी-शर्ट पहन कर गये थे। इसी प्रकार उन्होंने एक दिन शर्मा को बहस के दौरान ऊल-जलूल बातें कहीं। इन खबरों से असंतोष उभरने लगा।

त्रिपाठी एक दिन महत्वपूर्ण समाचार ले आये। उन्होंने मेरे कान में कहा, 'बॉस गोरख बाबू को बता रहे थे कि यहाँ की व्यवस्था उन्हें ठीक करनी है। इसके लिए हो सकता है, कुछ लोगों को हटाना भी पड़े।'

भय का साँप मेरे भीतर फुफकारने लगा, लेकिन मैंने उसे दबाते हुए कहा, 'देखता हूँ वे कैसे मुझे निकालते हैं ? दुनिया में अँधेर ही अँधेर नहीं है। संस्था का व्यवस्था-भार उनके ऊपर के अधिकारियों पर है। वे भी मेरी तरह संस्था के कर्मचारी हैं।'

शेखर, बुल्लू बाबू और निहोरा चपरासी ने भी यही बातें मुझसे कहीं। साफ था कि बॉस मुझे निकालना चाहते हैं। उनके काले कारनामों से मेरा रोब और अभिमान बर्फ की तरह गलने लगा था, लेकिन ऊपरी कठोरता और दृढ़ता मैं ओढ़े रहा। मैंने किसी पर यह जाहिर नहीं होने दिया कि बॉस की बात का मेरे ऊपर तनिक भी असर हुआ है।

लेकिन चारों ओर सन्नाटा खिंच आया। बॉस की शिकायतें दुहराने वाले होंठ सिल गये। भय के कारण सबके होंठ पपड़िया गये। जाने बॉस किसे निकाल दें, जब कि पहला शिकार जाहिर रूप से मैं ही था। बॉस के यहाँ जाने वाले लोगों ने अपने क्रम में परिवर्तन किया। सप्ताह में एक बार जाने वाले दो बार जाने लगे। रोज-रोज हाजिरी देने वाले दोनों शाम पहुँचने लगे। एक अजीब निष्क्रिय क्रियाशीलता चारों ओर व्याप गयी। तनाव हर कोने-अंतरे मे आ कर ठहर गया। स्टाफरूम के ठहाके भुनभुनाहट मे बदल गये। एक-दूसरे से बातें करने में भी लोग भय खाने लगे। जाने कौन बॉस तक कोई बात पहुँचाकर इनाम जीत ले या उसके कंधे पर से कूद कर आगे निकल जाय।

लोग डाट-फटकार सुनने लगे। दैनिक जीवन मे कुछ देर के लिए जो परिवर्तन आया था, वह चुक गया। जिन्दगी फिर घिसटने लगी। बदला हुआ माहौल फिर सड़ाघ की उदासी से पुर गया।

मजदूरों का यूनियन होता है। मजाल है, कोई मालिक किसी कर्मचारी का अपमान कर दे, लेकिन बौद्धिकों मे अजीब कमीनापन है। वे सब सहते हैं। प्रतिवाद वे नहीं कर पाते। उन्हें रोजी प्यारी होती है। रोजी बचाने के लिए वे हर तरह की मलामत सहते हैं। उनकी कोई जिन्दगी नहीं होती। अपमान के बदले वे अपनी रोटी, अपने बच्चे की मिंट, भुनभुना, पत्नी के लिए डेक्रान की साड़ियाँ, पाउडर, सिनेमा के टिकट आदि अर्जित करते है। धक्के खाते हैं, गिरते हैं, फिर घिसटते हुए इन चीजों को पाने के लिए ललक के साथ आगे बढ़ते है।

मैं अकेला पड़ गया। मुझसे मिलने से लोग कतराने लगे। शायद मुझे छूत की कोई बीमारी हो गयी थी।

इसी बीच एक दिन मेरे पास बॉस का संदेशा फिर पहुँचा। अब न जाने किस उद्देश्य से बॉस ने मुझे याद किया है। मन द्वन्द्व में उलझ गया। जाऊँ न जाऊँ की स्थिति मुझे चुभने लगी। उनके दो बुलावे मैं ठुकरा चुका था।

के साथ क्या किया जाय कि वे अपना कर्तव्य समझें ?'

माथुर साहब साप्ताहिक हाजिरी देने बास के बँगले पर गये थे। मजा यह कि कई बाहरी आदमियों के सामने बॉस ने अपने सहयोगियों के आचरण की यह प्रशंसा सुनायी। माथुर गमले के करोटन की तरह सब सुनते रहे। उनकी सोहरी का स्वांग उस दिन सब पर जाहिर हो गया। माथुर साहब इतने बेहया न थे कि अपनी दुर्गति का बयान करते चलते, लेकिन बात सबको मालूम हो गयी। सभी उनके मुँह से सारा जायजा सुनने को आतुर थे, लेकिन माथुर ने चुप्पी साध ली। बहुत हुआ तो कहा, 'अब कौन उलझने जाय। बॉस के मुँह लगना ठीक नहीं है।'

जिन बातों की ओर कोई ध्यान नहीं देता था, क्योंकि वे दैनिक जीवन की घटनाएँ हो गयी थीं, वे महत्वपूर्ण समाचार बन गयीं। पता लगा, बॉस ने मेहता को अपने दफ्तर से निकलवा दिया, क्योंकि वे चटक रंग का टी-शर्ट पहन कर गये थे। इसी प्रकार उन्होंने एक दिन शर्मा को बहस के दौरान ऊल-जलूल बातें कहीं। इन खबरों से असंतोष उमरने लगा।

त्रिपाठी एक दिन महत्वपूर्ण समाचार ले आये। उन्होंने मेरे कान में कहा, 'बॉस गोरख बाबू को बता रहे थे कि यहाँ की व्यवस्था उन्हें ठीक करनी है। इसके लिए हो सकता है, कुछ लोगों को हटाना भी पड़े।'

भय का साँप मेरे भीतर फुफकारने लगा, लेकिन मैंने उसे दबाते हुए कहा, 'देखता हूँ वे कैसे मुझे निकालते हैं ? दुनिया में अँधेर ही अँधेर नहीं है। संस्था का व्यवस्था-भार उनके ऊपर के अधिकारियों पर है। वे भी मेरी तरह संस्था के कर्मचारी हैं।'

शेखर, बुल्लू बाबू और निहोरा चपरासी ने भी यही बातें मुझसे कहीं। साफ था कि बॉस मुझे निकालना चाहते हैं। उनके काले कारनामों से मेरा रोब और अभिमान बर्फ की तरह गलने लगा था, लेकिन ऊपरी कठोरता और दृढ़ता मैं ओढ़े रहा। मैंने किसी पर यह जाहिर नहीं होने दिया कि बॉस की बात का मेरे ऊपर तनिक भी असर हुआ है।

लेकिन चारों ओर सन्नाटा खिंच आया। बॉस की शिकायतें दुहराने वाले होंठ सिल गये। भय के कारण सबके होंठ पपड़िया गये। जाने बॉस किसे निकाल दें, जब कि पहला शिकार जाहिर रूप से मैं ही था। बॉस के यहाँ जाने वाले लोगों ने अपने क्रम में परिवर्तन किया। सप्ताह में एक बार जाने वाले दो बार जाने लगे। रोज-रोज हाजिरी देने वाले दोनों शाम पहुँचने लगे। एक अजीब निष्क्रिय क्रियाशीलता चारों ओर व्याप गयी। तनाव हर कोने-अंतरे में आ कर ठहर गया। स्टाफरूम के ठहाके भुनभुनाहट में बदल गये। एक-दूसरे से बातें करने में भी लोग भय खाने लगे। जाने कौन बॉस तक कोई बात पहुँचाकर इनाम जीत ले या उसके कंधे पर से कूद कर आगे निकल जाय।

लोग डाट-फटकार सुनने लगे। दैनिक जीवन में कुछ देर के लिए जो परिवर्तन आया था, वह चुक गया। जिन्दगी फिर घिसटने लगी। बदला हुआ माहौल फिर सड़ांध की उदासी से पुर गया।

मजदूरों का यूनियन होता है। मजाल है, कोई मालिक किसी कर्मचारी का अपमान कर दे, लेकिन बौद्धिकों में अजीब कमीनापन है। वे सब सहते हैं। प्रतिवाद वे नहीं कर पाते। उन्हें रोजी प्यारी होती है। रोजी बचाने के लिए वे हर तरह की मलामत सहते हैं। उनकी कोई जिन्दगी नहीं होती। अपमान के बदले वे अपनी रोटी, अपने बच्चे की मैट, झुनझुना, पत्नी के लिए डेक्रान की साड़ियाँ, पाउडर, सिनेमा के टिकट आदि अर्जित करते हैं। धक्के खाते हैं, गिरते हैं, फिर घिसटते हुए इन चीजों को पाने के लिए ललक के साथ आगे बढते हैं।

मैं अकेला पड़ गया। मुझसे मिलने से लोग कतराने लगे। शायद मुझे छूत की कोई बीमारी हो गयी थी।

इसी बीच एक दिन मेरे पास बॉस का संदेशा फिर पहुँचा। अब न जाने किस उद्देश्य से बॉस ने मुझे याद किया है। मन द्वन्द्व में उलझ गया। जाऊँ न जाऊँ की स्थिति मुझे चुभने लगी। उनके दो बुलावे मैं ठुकरा चुका था।

बॉस के बंगले के गेट पर मैं जाने कब पहुँच गया, मुझे इसका अनुमान नहीं हुआ। सड़क की लाल बजरी मेरे जूतों से दब कर कर्र-कर्र करने लगी। खिंचा हुआ सन्नाटा पल भर को आँखें खोल मुझे ताकता रहा। एक दबाव मेरे मन पर छाया हुआ था। 'मुझे नहीं जाना चाहिये' की भावना मुझे डंसती रही।

मैं बॉस के बंगले के बरामदे में आ गया। उनका मरियल कुत्ता दो बार भौंक उठा। उसकी गुर्राहट से चपरासी बाहर आया। क्षण भर आश्चर्य से देख कर उसने सादर मुझे कुर्सी पर बैठा कर भीतर खबर दी। मैं कुर्सी पर बैठ गया। मैंने बहुत राहत महसूस की। लगा कि मैं बड़ी दूर से चल कर आया हूँ, जब कि मैंने यहाँ तक आने में कोई खास दूरी तय नहीं की थी। चपरासी उल्टे पाँव आकर बता गया कि बॉस गुसलखाने में हैं।

चारो ओर सन्नाटा था। कहीं से कोई आवाज नहीं उभर रही थी। बॉस का बंगला तिलस्मी कोठी की तरह शान्त-रहस्यमय ढंग से खड़ा था।

मैं घंटे भर तक दबाव झेलता रहा। यहाँ बुलाने की अनेक संभावनाएँ मुझे चिकोटी काटती रहीं। एक तनाव में बहुत देर तक जीता रहा, जो अब मेरे लिए असह्य हो रहा था। लीडरी की कठोरता लिजलिजी हो गयी थी। दृढ़ता और कठोरता का मुखौटा कई बार मेरे मुँह पर से खिसक गया, लेकिन बड़े यत्न से मैंने उसे फिर चिपका लिया।

बॉस गुसलखाने से लौट आये। मेरी उनके सामने पेशी हुई। उन्होंने बड़े आदर से मुझे बैठाया। चाय और पान का आर्डर दिया। फिर राजदाराना स्वर में उन्होंने कहा, 'मैं आपको एक महत्व और जिम्मेदारी का काम देना चाहता हूँ। उम्मीद है, आप इसे अस्वीकार नहीं करेंगे।'

मेरे भीतर का भय छंटने लगा, 'आपकी आज्ञा का पालन करने में मुझे बड़ी खुशी होगी।'

'मैं आपको बिल्डिंग इन्चार्ज बनाना चाहता हूँ। यह काम आप अपने

जिम्मे ले लें। अभी कई लो
भत्ता भी मै कमेटी से कह क
'लेकिन मैं इस काम में वे
अनुभव नही है। चूना, ईंट, मौ
नहीं।' मैं शायद अटकने लगा था

बॉस ने संभालने की कोशिश
करना है। ऊपरी काम देखियेगा।
दस्तखत करने होंगे। आप जिसे कहेंगे
आप जानते है, इस काम में ऊपरी ···।

छतरपुर-भोपाल बस के
'मिनट'। घड़ी का
नी बढ़ रही
इंस्पेक्टर

बाकी मैं नही सुन सका। गया बाबू का चेहरा मेरे सामने खड़ा था। गत वर्ष यही बिल्डिंग के इन्चार्ज थे। उन पर रुपये खाने का आरोप लगा था। बेचारे मुअत्तल हो गये थे।

भय की चीटियां मेरी रीढ़ पर रेंगने लगीं। बास ने एक जाल मुझ पर फेंका था। इसी तरह मीठे शब्दों में उन्होंने गया को भी फांसा होगा। अब मेरी बारी आयी है। मेरी दशा भी गया बाबू की ही होगी। फिर कोई दूसरा गया बाबू बॉस को मिल जायेगा।

मैंने साफ इन्कार कर दिया। लौटते समय लाल बजरी की आवाज मेरे कान तक नहीं आयी। सन्नाटे के बीच से तीर की तरह मैं बाहर निकल आया था।

राधावल्लभ त्रिपाठी : जन्म फरवरी १९४९ (राजगढ़ जिले में) १९७० में संस्कृत में एम०ए० किया, और १९७३ में पी-एच०डी०। सम्प्रति सागर विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं। अब तक १४-१५ कहानियां प्रकाशित हुई हैं। सभी प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित। दो उपन्यास तथा दो कहानी-संग्रह प्रकाशन के लिये तैयार हैं।

एक रूपया

उफ ! कितनी गर्मी थी। एक बोतल कोका कोला पी लेने के बाद जैसे सारा शरीर पहली बौछार के बाद गर्मी मे तपी हुई धरती की तरह भभक उठा हो। पसीने के रेले बह रहे थे और बनियाइन पसीने से तर होकर पीठ और सीने से चिपक गयी थी। दोनो बगलों में बुश-शर्ट भी नीचे तक पसीने से भीग गयी थी। मैं बार-बार रूमाल से चेहरे और गले को पोंछता हुआ हाथ मे ली हुई पत्रिका से हवा करते हुए राहत पाने का असफल प्रयास कर रहा था। बस से नीचे उतर कर खुली हवा में आराम पाना सम्भव नही था—डर था कि मेरी अनुपस्थिति में कही कोई सीट पर अधिकार न कर ले। पहले ही बड़ी कठिनाई से बस के पिछले हिस्से मे यह सीट मिली थी। मेरे आगे अभी भी पांच-छः लोग सीट पाने की प्रतीक्षा में खड़े थे और सीटों पर बैठे हुये लोगों से 'थोड़ा-सा उधर खिसक कर जगह बना देने' का अनुरोध कर रहे थे। मैं बार-बार घड़ी देखता हुआ बेचैनी से बस चलने की प्रतीक्षा कर रहा था। मेरे बगल में बैठे हुये सज्जन दो बार समय पूछ चुके थे और सरकारी बसों की अनियमितता पर टीका-टिप्पणी भी कर चुके थे। मैंने खिड़की से सिर निकाल कर देखा सामने के होटल में ड्राइवर महोदय आराम से बैठे हुये अपने शरीर की गाड़ी में चाय रूपी पेट्रोल डाल रहे थे। घड़ी में एक बार फिर देखा—एक बज कर चालीस मिनट—जब कि मुसाफिरखाने की दीवार पर

लगी हुई 'राज्यपरिवहन की समय सारिणी' में छतरपुर-भोपाल बस के छूटने का समय लिखा हुआ था—'एक बज कर बाईस मिनट'। घड़ी का कांटा जैसे-जैसे आगे खिसकता, वैसे-वैसे झुंझलाहट और बेचैनी बढ़ रही थी। आखिर ड्राइवर और कंडक्टर दोनों ही बस में प्रकट हुए और कंडक्टर के सीटी देने पर बस रेंग चली। मुझे कुछ राहत मिली। कंडक्टर ने बस में ठुंसे लोगों में से कुछ को डांट-फटकार कर और कुछ को विनय से सीटों पर जमाया। बच रहा केवल एक देहाती बुड्ढा। कंडक्टर ने चिल्ला कर कहा—'ए बुढ्ढ, तुम इन बाबू के बगल में बैठ जाओ।'

मेरे बगल वाले सज्जन ने एतराज किया—'भाई, दो लोगों की सीट है—दो लोग पहले से ही बैठे हैं।'

कंडक्टर ने कहा—'ठीक है भाई। बुढ्ढ, तुम खड़े ही रहो कुछ देर।'

बूढ़ा चुपचाप खड़ा रहा। अब मैंने उसकी ओर ध्यान से देखा—घुटनों तक एक सस्ते लट्ठे की धोती और एक फटी हुई बंडी। सिर पर साफा। एक हफ्ते से दाढ़ी नहीं बनवायी गयी थी। आँखों में घबराहट और मासूमियत का भाव। मैंने अपने बगल वाले सज्जन से कहा—'बैठा लीजिये बेचारे को, कब तक खड़ा रहेगा।' उन सज्जन ने अनिच्छापूर्वक कहा—'अच्छा बैठ जाओ बुड्ढे मियाँ!' और उन्होंने सीट पर छः इंच खिसक कर ज़रा सा स्थान बनाया। बुड्ढा मानो इस उपकार के भार से और भी दब कर सीट पर टिक गया। मुझे लगा कि यह स्थिति भी उसके लिये विशेष आरामदायक नहीं है—पर और मैं कर ही क्या सकता था—सिवाय इसके कि ड्राइवर और कंडक्टर को मन ही मन गालियाँ दूँ, जो आपस की सलाह में आठ-दस मील की दूरी तक जाने वाले देहातियों को बस में बिठा कर बिना टिकट दिये उनसे डेढ़-दो रुपया तक वसूल कर लेते थे।

बस ने गति पकड़ ली थी और कंडक्टर ने टिकट बाटना शुरू कर दिया था।....'ए बाई किधर जाना है तुमको',...'हाँ, भैयाजी, यह लीजिये शाहगढ़ तक का टिकिट....', 'आप भी क्या बात कर रहे हैं बाबू

जी, भले आदमी हो कर !'—'छः साल के लड़के की उम्र ढाई साल बता रहे हैं'''आधा टिकट तो लेना ही पड़ेगा।' काफी देर बाद कंडक्टर मेरे पास आया और मैंने सागर तक का टिकट लिया। इसके बाद मेरे बगल में बैठे सज्जन का और फिर उस देहाती का भी नम्बर आया। 'ए बुढऊ, क्या ऊँघ रहे हो—कहाँ जाना है ?'—'सागर तक'—बुड्ढे ने हड़बड़ा कर कहा। कंडक्टर ने कुछ विस्मय से बुड्ढे को देखा। वह समझता था कि बुड्ढा आस-पास के किसी गाँव में उतरेगा और वह उस से अपनी जेब गरम करने के लिये दो-एक रुपये झटक लेगा। फिर उसने जल्दी से टिकट काट कर बूढे के हाथ में थमाते हुए कहा—'लो, निकालो पाँच रुपये पैंतालीस पैसे।' बूढे ने कुछ घबराहट और विस्मय से अपनी बंडी की दाहिनी जेब में हाथ डालते हुये कहा, 'कन्डक्टर साब, चार रुपया और आठ आना पइसा लगत हैं।' 'यह कोई साग-सब्जी की दूकान है जो मोल-तोल कर रहा है। जितना रुपया माँग रहे है उतना निकाल झटपट।'—और कंडक्टर बगल की सीट वाले आदमी से पूछने लगा—'कहाँ जाना है आपको ?' मैंने देखा कि बूढे के चेहरे पर भीख माँगने का सा भाव उभर आया है। उसने अपनी जेब से एक के चार नोट और एक अठन्नी निकाल कर कंडक्टर की ओर बढाते हुए कहा,—'कंडक्टर साब साढे चार रुपया ले लो, और नईयाँ हमारे पास !' 'एक बार कह दिया पाँच रुपये पैंतालीस पैसे लगेंगे—फिर क्यों बहस कर रहा है—' कंडक्टर दहाड़ा और फिर जैसे उसने सारी सवारियों को सुनाते हुये कहा—'साले न जाने कहाँ से चले आते हैं जांगलूस कहीं के'''।'

मेरे भीतर उस निरीह देहाती के प्रति दया का भाव उमड़ा। बेचारा !— डेढ़-दो साल पहले कभी सागर गया होगा तब का किराया याद रखे हुये है। उसे मालूम नहीं यहाँ वित्तमंत्री की कलम के एक स्पर्श से कभी भी बस के किराये में वृद्धि हो सकती है। मन में आया कि उसे एक रुपया अपने पास से दे दूँ। फिर सोचा—यह तो ठीक नहीं रहेगा। बस के सब यात्री मेरी ओर कौतूहल से देखेंगे और मुँह फेर कर

व्यंग्य से मुस्करायेंगे। दो चार लोग आपस में फुसफुसायेंगे—'क्या बेवकूफ है। बेकार में एक रुपया लुटा दिया।' और शायद ये बगल में बैठे सज्जन पूछ बैठें—'आप का कोई रिश्तेदार है क्या?' मन को समझाया—'ऐसे तो न जाने कितने लोग पड़े हैं इस देश में!—एक की मदद कर के मैं क्या कर लूँगा।' मेरी बगल में बैठे सज्जन उस बुड्ढे को समझा रहे थे—'अरे भाई एक रुपया तो और चाहिये ही!—दे दो निकाल कर! जितना किराया होता है उतना ही मांग रहे हैं तुम से—कोई ज्यादा तो मांग नही रहे।'

अब तक कंडक्टर का धैर्य समाप्त हो चुका था। उसने कहा 'बाबा, तेरे पास पैसे नहीं हैं तो टिकिट वापस कर और उतर मोटर से! यहां सागर जाने वाले दो चार लोग और हैं—उनमें से किसी को वह टिकिट दे देंगे!' बुड्ढा शायद निराशा में गोते लगाता हुआ भी अब तक किसी तिनके को पकड़े हुए था—अब वह भी छूट गया। वह चुपचाप उठ खड़ा हुआ और कंडक्टर को टिकिट पकड़ा कर आगे के दरवाजे की ओर बढ़ा। मेरे बगल वाले सज्जन ने कहा—'देखा भैया आपने। कैसे बेवकूफ होते हैं ये देहाती लोग। एक रुपये के पीछे मोटर से उतर गया। इन लोगों के पास कोई पैसे की कमी थोड़ी ही है—यों ही हजारों रुपया बीड़ी-शराब में फूँक देंगे पर किराये में मोल-भाव करेंगे•••।' मैंने उनकी बात का कोई जवाब नहीं दिया। कंडक्टर ने सीटी देकर चलती हुई बस को रुकवाया और बुड्ढा नीचे उतर गया। मैंने खिड़की से सिर थोड़ा सा बाहर निकाल कर देखा—उसके चेहरे पर वैसा ही भाव था जैसा किसी छोटे से बच्चे के चेहरे पर उसका मन-पसन्द खिलौना छिन जाने पर होता है। मेरे भीतर से कोई चिल्लाया—'तुम अब भी उसे दे दो एक रुपया!—एक रुपये में कोई कंगाल तो हो नही जाओगे तुम!'—और मैंने सीट से पैरों पर कुछ उठ कर रुपया निकालने के लिये जेब में हाथ डालते हुए उसे आवाज देना चाहा। पर मेरे हृदय की गति कुछ तेज हो गयी और मुँह से आवाज नहीं निकली। बस चल चुकी थी और वह बुड्ढा उससे विपरीत दिशा में

छतरपुर के बस स्टैंड की ओर बढ़ रहा था। अचानक मेरे हृदय की धड़कन फिर मन्द हो गयी और सोचा—'अब तो वह दूर निकल गया है—कौन उसे आवाज दे।' फिर वापस सीट पर बैठते-बैठते मेरी दृष्टि बगल के उस मील के पत्थर पर पड़ी, जिस पर रोमन लिपि मे 'छतरपुर—३ किलोमीटर' लिखा था और फिर मेरी आँखों के आगे जून की दोपहर मे सड़क पर रेंगते हुए उस हताश बुड्ढे का चित्र घूम गया। बस तेजी से चल पड़ी और वह चित्र धुंधला होता हुआ हवा में बिखर गया और मैं अपने बगल वाले सज्जन से, जो अपने शरीर का आधा भार मेरे ऊपर डाल कर ऊँघ से रहे थे अलग सरकने की प्रार्थना करता हुआ आराम से सीट पर फैल कर बैठ गया था।

सुधा : छोटी कहानियाँ लिखने के कारण आपका नाम काफी प्रसिद्ध हुआ है। छोटी कहानी का नाम लेते ही सुधा नाम सबसे पहले याद आता है। वे बहुत परिश्रम से लिखती हैं, और कुछ कहानियाँ बेहद चर्चित भी हुई हैं। सम्प्रति, बिहार शिक्षा सेवा, मुंगेर में।

कोठेवाला

आज मैंने समझा कि उस औरत ने क्यों मुझे हिकारत से देखा था।

लगभग बीस साल पहले की बात होगी।

मेरे साथ मनोहर का उठना-बैठना था। लोगों को आश्चर्य भी होता था। मैं, पेशे से डाक्टर, स्वभाव से कलाकार और परिस्थिति से जवाबदेहियों का टट्टू। वह, अधपढ़ा, स्वभाव से बनियाँ और परिवार से लापरवाह। मेरी उसकी दोस्ती का कोई तुक न था। लेकिन अक्सर ही वयस्क उपलब्धियों को लाँघ कर बचपन की दोस्ती हम सबको एक समतल पर खड़ा कर देती है।

जिन्दगी उसे बदनामी और मुझे प्रसिद्धि दे रही थी। लेकिन हम सिर्फ एक दूसरे का साथ दे रहे थे। हमारे ग्रुप का वह लीडर था जिसमें कुछ तो थे उसी की तरह बिगड़े-दिल शहजादे, और कुछ ऐसे लोग भी जो अपने परिवार पर जान छिड़कते थे पूरी निष्ठा से। लेकिन एवज में ले लेते थे रूमे-यार के लिये साल में दो-चार दिन।

साल का पहला दिन हम किसी जंगल-बियाबान में बिताया करते थे। वहाँ मनोहर दिन मे शिकार करता था और रात में शिकार बनता था। सबकी जरूरतें पूरी करने का अनकहा जिम्मा उसका था। मुझसे कुछ बातें छिपाई भी जाती थीं। वे सब जान गये थे कि किराये की औरतों के प्रति मेरी रसिकता नहीं है। वे यह भी जान गये थे कि पाँच कदम की दूरी पर चल रहा शारीरिक विनिमय भी मुझे उत्तेजित नहीं कर पायेगा।

'सो गये ?'—मनोहर ने पूछा ।

'ऊँ !'—मैंने बिना करवट बदले ही कहा ।

'तुम्ही शुरू करते ।'

'क्या ?'

उस साल हमारी पार्टी सात की थी और औरतें जुट पाईं केवल तीन । याने कुछ को जूठी पत्तल मिलनी ही थी । यहीं प्रश्न उठा होगा कि प्राथमिकता किसे मिले ! मनोहर पीने के बाद सबका बाप बन जाता था । अनेक संतानों के पिता की तरह वह हर को महत्व देता हुआ छोटी से बड़ी बात का निर्णय लेता था । उसे लगा था, दिन भर की धमाचौकड़ी में आगे रहने वाला मैं ही शायद इस पारिश्रमिक का सबसे पहला हकदार हूँ ।

'तुम तो जानते हो ।'

'जानता हूँ यार, लेकिन हमारा भी तो मन रख कभी ।'—वह दुलार से बोला था ।

'आज तो जान छोड़, फिर कभी देखा जायेगा ।'

उस दिन उसने कृपापूर्वक मुझे छोड़ दिया था । मैं अनिद्रा का रोगी हूँ । कोई तनाव न भी हो तो मुझे नींद नोह आती । लेकिन उस दिन सो गया था । इसलिये जान नहीं पाया कि कैसे हिस्सा बँटा होगा । उसके बाद भी कई वर्षों तक यह क्रम चला था । लेकिन एक साल मुझे ही उस पर रोक लगानी पड़ी थी ।

'न, तुम नहीं जाओगे ।'—वह दिल का मरीज था, मेरे ही इलाज में था ।

उसके न जाने का अर्थ था किसी का न जाना ।

'तुम लोग जाओ ।' उसने उदासी से भर कर कहा ।

'नहीं, तुम नहीं जाओगे तो मजा ही नहीं आयेगा । इस साल बन्द ही रहे ।'

'कहीं और चलो ।'

'कहीं और' का अर्थ उसने समझाया अपने ही शहर में एक रंडी के

कोठे पर।

मैं हँस दिया था।

'तुम कैसे जा सकते हो?'—उसने बड़ी समझदारी से कहा था।

उसकी यह समझदारी हमारे उसके बीच की दूरी में सबसे बड़ी खाई थी। उसके मृत्युमुखी जीवन को कुछ काल तक बिलमाने के लिये इस खाई को पाट देना जरूरी होता। मैंने कहा—'क्यों नहीं जा सकता हूँ? मर्द नहीं हूँ क्या!'

समाज में मेरी उसकी प्रतिष्ठा के अन्तर को एक ही आदिम वृत्ति के रसायण से दूर किया जा सकता था। मैं उसके साथ चकाचक रोगनी के बीच एक बहु-जन-शायिनी वेश्या के कोठे पर चला गया था।

मनोहर उस दिन सचमुच बहुत खुश था। वह जानता था मैं वहाँ सिर्फ उसका साथ देने गया हूँ। इसलिए वेश्या की ओर से वही मेरी खातिर के प्रति आग्रहपूर्ण हो उठा।

'कुछ सुनाओ इनको।'

गाकर रिझाना और नाचकर बाजू में आ बैठना वेश्या का धर्म है। उसने फरमाइश पाते ही वह सब किया। वह मनोहर के साथ बगल के पर्दा वाले कमरे में भी गई थी। मैं प्रतीक्षा करता रहा था। मनोहर ने शायद वहीं उसकी फीस दी होगी। उन लोगों के लौटने पर मैंने विदा ली थी। वह बड़ी अदा से मुझे सलाम करती हुई मुस्कुराई थी। मैं नमस्कार करते-करते रह गया था। हाथ जेब में डाल कर जब मैं कमरे से सीढ़ी की ओर मुड़ने लगा तो देखा उसके चेहरे पर उगी हुई नफरत को। एक ऐसी वितृष्णा की परछाईं मुझे दीखी थी जो भिखमंगों को देखकर हमारे चेहरे पर उभरती है।

उस दिन मैंने समझा नहीं, पर आज समझ पाया हूँ।

बहुत व्यस्त हूँ। अस्वस्थ भी हूँ। लेकिन पेशे से लाचार हूँ। रोगियों के घर जाकर उनके रोगों का निदान करना ही है। कॉल की सूची पर दृष्टि डालता हूँ। जो सबसे जरूरी है वहीं से शुरू करूँ।

दवा का पुर्जा थमा कर खाना-पीना सब बता देता हूँ। अब उठना है।

'डाक्टर साहब! जरा इसे देख लीजिये न।'—इसी घर में इस दूसरे रोगी के लिए मुझे नहीं बुलाया गया है। कान में दर्द हो जाया करता है, पेट भी चल रहा है। डाक्टर साहब आ ही गये हैं, देख लें।

दरवाजे तक पहुँचते-पहुँचते पाँच को जाँचकर हारा सा हो जाता हूँ। जेब में मात्र एक रोगी को देखने की फीस है। मुँह से कुछ नहीं कहता हूँ क्योंकि रोगी देखना तो मेरा धर्म ही है।

लेकिन अपने मुँह पर उस भाव का उभरना नहीं रोक पाता जो मनोहर की कोठेवाली के मुँह पर बीस साल पहले देखा था।

राम आनन्द : जन्म १९४९ (मुंगेर, बिहार)। भागलपुर विश्वविद्यालय से रसायन-विज्ञान में एम० ए०। सम्प्रति दिल्ली में हैं। पहली कहानी १९७४ में 'कहानी' में प्रकाशित। अब तक लगभग एक दर्जन कहानियां प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी कुछ कहानियां विशेष रूप से चर्चित हुई हैं। आजकल एक उपन्यास लिख रहे हैं।

नींद

पार्टी के अध्यक्ष मुझ पर नाराज हो गये हैं। उन्होंने धमकी दी है कि वे मुझे पार्टी की सदस्यता से वंचित कर देंगे। कि उनकी पार्टी को चलता-पूर्जा लोगों की जरूरत है। कि मेरे जैसे बोदे और निकम्मे आदमी के लिये उनकी पार्टी में कोई जगह नहीं है।

वे सोफे पर आंख बन्द किये उठंगे हुए हैं और ऐसा लगता है कि हमेशा-हमेशा के लिये उन्होंने मेरी ओर से अपनी निगाह फेर ली है। उन्होंने मुझे सोचने का मौका दिया हुआ है। मुझे अभी तुरन्त फैसला करना है कि या तो उनकी पार्टी छोड़ दूं या फिर उनका कहना मानने के लिये तैयार हो जाऊं।

काफी देर से हम दोनों के बीच रस्साकशी का खेल चल रहा है। मेरी अंगुली पकड़ने के बाद अब वे मेरा गट्टा पकड़ना चाहते हैं। मैं अपना हाथ अपनी ओर खींच रहा हूं और वे मेरा हाथ अपनी ओर खींच रहे हैं। आखिरकार रस्सा मैंने अपनी ओर खींच लिया है। और यही कारण है कि वे मुझसे सख्त नाराज हो उठे हैं।

उन्होंने मुझको बुलाकर फरमाइश की है कि मैं उनके लिये कहीं से एक बोतल का इंतजाम कर दूं। कि कुछ दोस्त लोग आकर उनकी सारी बोतलें खाली कर गये। कि उन्हें रात में पीकर सोने की आदत है। और कि बिना पिये उन्हें नींद नहीं आती।

यह आलीशान डाक बंगला, जिसके सुसज्जित गोल कमरे में हम आमने-सामने सोफे में धंसकर बैठे हैं, शहर से दो तीन मील दूर पहाड़ी पर खूबसूरत झील के किनारे बना है। झील के उस पार घने जंगलों का सिलसिला शुरू होता है।

रात गाढ़ी हो रही है। दस से ऊपर बज रहे हैं। बाहर कड़ाके की सर्दी है और घने कोहरे की धुंध। इस भयानक रात में मुझे शहर तक जाना है। रास्ता निर्जन और खतरनाक है। चोर-बदमाश के डर के साथ-साथ शेर का भी डर है जो रात में कभी-कभी तफरीह के लिये जंगल से मैदानी इलाकों में निकल आता है। अगर नहीं जाऊँगा, तो यह शेर जो मैदानी इलाके से जंगल में तफरीह फरमाने आया है, इसकी उचटी हुई नींद का क्या होगा!

झील के उस पार संथालों की बस्ती है। महुए की शराब वहाँ मिलती है। लेकिन साहब को ठर्रा पसंद नहीं है। कि यह भी कोई आदमी के पीने की चीज है। घोड़े को दी जाती है। शुरू-शुरू में साहब यही पीते थे। कि अब यह उनके गले के नीचे नहीं उतरती। अब वे केवल फलों का पुराना रस ही लेते हैं।

साहब लोग जीवन की भाग-दौड़ से ऊबकर इस पहाड़ी पर छुट्टियाँ बिताने आते रहते हैं। हो सकता है कि डाक बंगले के खानसामे के पास पहले की बची हुई एक-आध बोतल हो। 'खानसामे की नींद में खलल पड़ी है। वह आँख मलता हुआ मुझ पर बरस पड़ा है—'सब साला साहब लोग कुत्ता है। इधर जो बी साहब आता शराब माँगता, छोकरी माँगता। जाओ सा'ब जाओ, इधर हमारा पास कुछ बी नहीं है, खामुखा मुझको सोने में डिस्टरब मत करो'''।'

खानसामे से झिड़की खाने के बाद फिलवक्त मेरे पास शहर जाकर बोतल लाने के सिवा दूसरा कोई विकल्प नहीं है। जाता हूँ तो रास्ते में शेर का डर है और नहीं जाता हूँ तो पार्टी के अध्यक्ष की आज्ञा है। मैं बड़े पसोपेश में पड़ा हूँ। मृग का रूप धरकर जाता हूँ तो राम के हाथों

मारा जाता हूँ, और नहीं जाता हूँ तो रावण के हाथों मारा जाता हूँ। दोनों हालत मे मेरा कल्याण नहीं है। फिलहाल राम के हाथों ही मारे जाने में मेरी भलाई है।

बोतल देखते ही साहब की आँखे चमक उठी हैं। वे मेरी पीठ ठोंककर मुझे शाबाशी दे रहे है। मुझे लग रहा है जैसे कोई गिद्ध मेरी पीठ पर अपनी चोंच मार रहा है। अध्यक्ष अब बहुत खुश हैं—'वेल डन ब्याय, यू हैव डन ए ग्रेट जाब फार मी · तुमको इसका रिटर्न मिलेगा ·· कम आँन एण्ड बी मिटेड···।'

मैं उठकर आने लगता हूँ तो हाथ पकड़ कर मुझे बैठा लेते है—'यह अकेले की चीज नहीं, तुम भी साथ दो...'

मैं सकते की हालत मे पड़ गया हूँ। कुछ कहते नहीं बनता। हाथ जोड़कर पिंड छुड़ाना चाहता हूँ—'माफ कीजिये, मै अभी तक दुधमुँहा हूँ···।'

वे जिद करने लगे हैं—'लीडरी करने चले हो बन्धु तो दुधमुँहा बनने से काम नहीं चलेगा···।'

उन्होंने दो ग्लासों मे मोटा पैग तैयार किया है और दोनों ग्लासों को आपस में टकराया है—चीयर्स! फिर एक ग्लास मेरी ओर बढ़ा दिया है—'तुम बड़े स्मार्ट लड़के हो। तुम मे राजनेता बनने की असीम सम्भावनाएँ है।· बस इसी तरह हमारी सेवा करते जाओ और देखते जाओ कि हम तुम्हें चमकाकर कहाँ से कहाँ पहुँचा देते है।'

मैं बहुत खुश हूँ कि अध्यक्ष बहुत खुश है। उनकी बातों से ऐसा लग रहा है कि वे मेरे पार्टी के काम से पूर्णतया संतुष्ट हैं और मैं उनकी नजर मे आ गया हूँ। मैं चार-पाँच साल से इस पार्टी का सदस्य हूँ। पार्टी के सालाना जलसे मे नये सदस्यों को सम्बोधित करते हुए अध्यक्ष का भाषण अभी तक मेरे कानों में गूँज रहा है—'आज के बाद से आप लोगों का नया जीवन शुरू हो रहा है, नेता का जीवन, राजनेता का जीवन। आज से आप लोग पार्टी के काम मे मन-प्राण से जुट जाइये, लाँघते जाइये नई

ऊँचाइयों को।' मैं एक महत्वाकांक्षी नौजवान हूँ और ऊँचाइयों पर जाना चाहता हूँ। मेरी खुशी स्वाभाविक ही है क्योंकि इसमें अब कोई शक नहीं कि अध्यक्ष पूरी तरह मुझ पर मेहरबान है और आने वाले इलेक्शन में मैं पार्टी का उम्मीदवार बन जाऊँगा। मैं पहली बार पी रहा हूँ। मैने पहली कडवी घूँट बहुत मुश्किल से हलक के नीचे उतारी है। मुझे अच्छा नही लग रहा और न कोई मजा मिल रहा है। मैं सोच रहा हूँ कि क्यों ये कडवा जहर पीते है···? शिव बनने के लिये शायद जहर पीना जरूरी होता है।

उन्होने एक ही दम मे पूरा ग्लास खाली कर दिया है और आँखें बन्द कर सोफे पर उठंग गये है। कोई चार-पाँच मिनट बाद उन्होने अपनी आँखें खोली है और सीधा तनकर बैठ गये है। मैं दूसरी चुस्की ले रहा हूँ और वे दूसरा पैग तैयार कर रहे है—'इस डाक बंगले का बडा नाम सुना है जी···? सुना है कि चाँदनी रात में इस झील मे बोटिंग का बडा मजा रहता है···?'

शराब है ही बुरी चीज। गले के नीचे उतरते ही अपना करिश्मा दिखाने लगती है। मैं उन्हे याद दिला रहा हूँ कि यह जाड़े की अमावस्या वाली रात है। लेकिन वे समझ नही रहे है। उन पर बोटिंग की सनक सवार है। नशा उन पर तारी हो चुका है और शराब की भरपूर मस्ती उनकी आँखो में छा चुकी है। उनकी जुबान भी अब लडखडाने लगी है—'सुना है तुम्हारे इलाके की संथालिनें बड़ी लाजवाब होती है···?'

मैं भौचक्क-सा रह गया हूँ। उनकी आँखो में लाल डोरे उभर आये हैं और उनमें मुझे किसी हिंसक शेर का खूनी पंजा नाचता हुआ दिखायी दे रहा है। मुझे ऐसा लग रहा है जैसे वह गिद्ध जो अब तक मेरी पीठ पर चोंच मारता रहा है, अब अपने डैने फड़फड़ाकर मुझ पर निर्मम प्रहार करना चाहता है।

काफी देर से वे जो मेरे सामने दाना छीटते रहे हैं उसका मतलब मुझे कुछ-कुछ समझ में आने लगा है। मैं अब तक समझ ही नहीं सका

कि वे शतरंज की काफी अच्छी चालें चल कर बहुत देर से मुझे मात करना चाहते है। लेकिन इसके पहले कि मैं मात हो जाऊँ उनकी साजिश नंगी हो गई है। यह बात जरूर है कि मुझे उनका मकसद कुछ देर से समझ में आया है।

वे ग्लास को बार-बार अपनी अंगुलियों के बीच नचा रहे है—'यही कि कुछ और भी···'

मैं उनके इस 'कुछ और' का इशारा खूब अच्छी तरह समझ रहा हूँ। फिर भी जान कर मैं अनजान बना हुआ हूँ। मैं जानता हूँ कि राजनीति के ये पुराने पहलवान हमेशा घुमाकर नाक पकड़ते हैं। चाहेंगे कि साँप भी मर जाय और लाठी भी नही टूटे।

'अरे भाई शराब के बाद शबाब भी होना चाहिये।' अपनी एक आँख दबाकर वे अपने घिनौनेपन पर उतर आये है। घबराकर उन्होंने अपने छद्म की नकाब उतार फेंकी है। भेड़िया आखिर कब तक मेमने की खाल ओढ़े रह सकता है!

वे असहाय हो गये है और मेरे सामने हथियार डाल दिया है—'तुम्हें मेरे लिये यह करना ही होगा। चार-पाँच दिनों के बाद की आदत-सी हो गई है। वैसे नीद ही नही आती। आज लगता है जैसे नीद ने नही आने की कसम खा रखी है···।'

मैं चुप हूँ और भीतर से कठोर। अच्छा शगल पालते है अध्यक्ष! मेरी समझ मे नही आ रहा कि आखिर कैसी है अध्यक्ष की नीद जो बिना शराब और शबाब के आने का नाम ही नही लेती···? मैं उन मजदूरो की नीद के बारे में सोच रहा हूँ जिनकी हिमायत हमारी पार्टी करती है। कि आखिर उनकी नीद कैसी है जो वे दिन भर खेतों में अपना पुट्ठा तोड़ने के बाद और सड़को पर रिक्शा खीच-खीच कर अपनी रगो को गलाने के बाद टूटी-निखहरी खाट पर या खुले आसमान के नीचे फुटपाथों पर पलक झपकते खुर्राटे भरने लगते हैं···?

मैं बिफर उठा हूँ। इच्छा होती है कि अध्यक्ष को इतने घूँसे लगाऊँ

कि उनकी एक-एक रग में बेशुमार थकान भर जाय, ताकि वे शिथिल हो जांय और सुख की नींद सो जाय। बहुत मुश्किल से मैं अपने को संतुलित कर पाया हूँ। अध्यक्ष को मैंने सीधा-सा जवाब दे दिया है—'आई एम वेरी सारी···आई कान्ट हेल्प यू···।'

मुझ को सोचने का काफी समय मिला है। मेरा पार्टी में रहना अब एक ही बात पर मुनहसर करता है कि मैं अध्यक्ष को ऐश करने के लिये अधबूढ़ी या जवान सथालिन ला दूँ। नहीं, नहीं यह मुझसे कतई नहीं होगा। यह भड़ुआगीरी मुझसे नहीं होगी।

मैं फैसला कर चुका हूँ कि पार्टी छोड़ दूँगा। अध्यक्ष अभी तक शायद इस प्रतीक्षा में है कि मैं उनकी बात मान जाऊँगा। नहीं करनी मुझको ऐसी नेतागीरी। मैं अब राजनेता बनना नहीं चाहता। पाँच साल तक मैंने अपनी पार्टी के लिये खून-पसीना एक किया है। मुझको पार्टी छोड़ने का अफसोस तो है लेकिन उससे कहीं ज्यादा खुशी है। क्योंकि अगर मैं इस पार्टी में रह गया तो एक न एक दिन जरूर ही मुझको भी अनिद्रा की बीमारी हो जायेगी। मैं अपनी नींद हराम करना नहीं चाहता।

प्रेमचंद सहजवाला : नये लेखकों में प्रेमचन्द सहजवाला का नाम बेहद प्रसिद्ध और चर्चित हुआ है। अब तक आपकी २०-२२ कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं, तथा एक कहानी-संग्रह 'सदमा' भी प्रकाशित हो चुका है। 'कहानी-पुरस्कार-योजना' के अन्तर्गत आपकी एक कहानी पुरस्कृत भी हुई है।

तेरी मेरी जिन्दगी

शायद आधे घन्टे से अधिक नही सो पाया हूँगा। मेरा एक पाँव पलँग के किनारे से नीचे लटक रहा था। तन्द्रा से मिलती-जुलती, बिखरे-बिखरे दृश्यों वाली फटी-फटी-सी नींद, जिसमे सपने भी अपना कोई रूप निर्धारित नहीं कर पाते। इस बीच नींद ने कई बार उड़ जाने को आतुर पंछी की तरह पंख फरफराए तो साथ के पलँग पर बैठी माँ का बुझा-बुझा चेहरा भी नींद के बिखरे दृश्यों मे आ मिला। दिमाग कुछ बोझ-सा महसूस करता बार-बार नींद की घाटियों मे पलायन कर जाने की [illegible] रहा।

तभी माँ ने शायद हल्के-से छुआ भर, और प्यार से कहा—'[illegible] नही बेटे ?'

ठीक उसी क्षण माँ के चेहरे को देखकर लगा 'माँ को [illegible] तक विश्वास नही आया कि मैं जाऊँगा। दीदी [illegible] लेकर सुमन की बी० एड० मे एडमीशन के [illegible] दिन के लिए बाहर गई हुई थी। सुबह-सुबह माँ के [illegible] स्वर मे कह दिया था—'नही जाऊँगा।' [illegible] ही नियति है। फिर पूरा दिन माँ का [illegible] माँ ने केवल एक बार कहा था—'[illegible] तरस आएगा।' दोपहर का खाना [illegible]

निकलने में अभी समय था, या शरीर अब हमेशा के लिए बेहद थक चुका है, यूँ ही लेट गया तो आँख लग गई थी ।

एयरबैग माँ ने और सुमन ने तैयार कर रखा था। मुझे सिर्फ बूट पहनने थे । माँ ने झुककर पलँग के नीचे से बूट निकाले । सुबह एक छोकरा पॉलिश के लिए पूछने ऊपर आता है । माँ ने शायद सुबह ही जूते पॉलिश करवा रखे थे । जुराबों को धुली हुई जोड़ी दूसरे कमरे से लाकर देते हुए माँ बोली—'एक तसमा टूट गया है बेटे । शोकी की दुकान पर गई तो बन्द थी । मार्केट से नए तसमे लेता जाइयो । ऐसे अच्छा नहीं लगता ।' फिर माँ ने शो-केस पर रखा जीरो नम्बर का चश्मा ला दिया ।

'चाय बना दूँ बेटे ?' जूते पहन चुकने के बावजूद मैंने चश्मा एक तरफ रखकर कोहनी के बल अधलेटा-सा होकर आँखें मूँद लीं तो माँ न चाय के लिए पूछा ।

'न-न', कह कर मैं उठ खड़ा हुआ । चश्मा पहनकर और एयरबैग उठाकर माँ के चरण स्पर्श लिए । माँ ने मेरा उनींदा चेहरा हाथों में भर कर माथा चूमा—'ठहर बेटे, ठहर ।'

तभी मेरी नजर दूसरे पलँग के उस तरफ कोने में बैठे पिताजी पर गई । वे वहाँ गोल मेज पर रखी भगवान् की मूर्तियों की पूजा कर रहे थे । शायद काफी देर से । वर्ना इस समय वे सोए हुए मिलते हैं । उठकर पास आए । एक शीशी से जल निकालकर मेरी खुली हुई अँजुलि में उँडेला । जल पीकर पिताजी के चरण स्पर्श किए तो उन्होंने सिर पर हाथ रखकर कहा—'जय ।'

मैंने उनके जल, पूजा और जय से अछूता रहकर केवल इतना कहा—'अब आप सो जाइए पिताजी ।'

दूसरे कमरे को पार करते-करते देखा सुमन सोई हुई है । बॉल्कनी में जाकर सीढ़ियों में प्रवेश किया तो आभास हुआ शायद सुमन ने करवट बदलकर पीछे से कहा है—'गुडलक भैया ।'

इधर तीन-चार दिन, समय से भी पहले आई लगातार बारिश की

किचकिच ने परेशान कर दिया था। आज अचानक तीखी धूप निकल आई थी। इसलिए शरीर निश्चय नहीं कर पा रहा था कि धूप अच्छी लगनी चाहिए या बुरी। एक उचटी-सी नजर यूँ ही वातावरण पर डाल, मैं धूप के इस तीखेपन से भी तटस्थ जैसे सोया-सोया ही मार्केट पहुँचा। मार्केट की सूनी-सूनी-सी लग रही दूकानों के बाहर एक अकेली बस के अतिरिक्त और कोई नहीं था। बाएँ जूते का तसमा सामान्य आकार से आधा था और मैंने यूँ ही सुराखों की दो पंक्तियों में फँसाकर गाँठ बाँधकर कस दिया था। पर अब फैमी स्टोर पीछे छूट गए थे और मैं आगे बढ़ आया था। बस में एक खाली सीट पर खिड़की के पास जा बैठा। तीन-चार लोग और भी इधर-उधर बैठे थे। कण्डक्टर-ड्राईवर शायद पास की दूकान पर हों। उखड़ी हुई नींद ने सिर भारी कर दिया था। खिड़की से टिकाकर आँखें मूँद लीं। इससे पहले शायद पीछे से किसी परिचित ने पूछा भी—'कहाँ जा रहे हो भाटिया ?' लेकिन मैंने कोई उत्तर न दिया। पहले घर वाले और यार-दोस्त कहते थे तुम सोचते बहुत हो। इतना सोचा मत करो। अब कहते हैं तुम सोते बहुत हो।

कश्मीरी गेट बस-अड्डे पर उतर कर पास ही के किसी शहर के लिए दूसरी बस पकड़नी थी। पहले ढींगरे को बहुत ढूँढा। दूर-दूर तक फैले इस इन्टर-स्टेट-बस-टर्मिनस में सिर्फ बसों ही बसों, टिकट-खिड़कियों, भीड़ और ट्रंक-होल्डालों के अतिरिक्त और कुछ नहीं नजर आ रहा था। इतने बड़े बस-अड्डे का आधा चक्कर लगाकर ढींगरे को खोजते-खोजते ही मैं थक गया। उसने कहा था वह इस बस-अड्डे के बाहर डी० टी० सी० के बस-स्टॉप या रिट्ज सिनेमा के बाहर मिलेगा। दोनों जगह नहीं मिला तो अन्दर आना पड़ा। दरअसल अब इन्टर्व्यू दे-देकर मैं इस कदर थक चुका हूँ कि कहीं भी जाने को मन नहीं करता। दो वर्ष की इस इन्टर्व्यू यात्रा के बाद अब कभी-कभी लगता है घर बैठे बैठे कोई नौकरी दे जाए तो दे जाए, अब कहीं जाया नहीं जाएगा। घूमते-घूमते फ्रूट की दूकानों और रेस्तराओं की इस लम्बी कतार की तरफ आ गया था और

अब एक रेस्तरां के सोफे में धंसकर बैठे-बैठे लग रहा था ढींगरा नहीं आया तो पता नहीं जाऊँगा या नहीं। बैरे को एक कप चाय का आदेश दिया। तभी देखा कन्धे पर बैग लटकाए मस्ती में झूमता ढींगरा रेस्तरां की तरफ ही आ रहा है। रेस्तरां में प्रवेश करके मुझ तक पहुँचते-पहुँचते ढींगरा बोला—'हल्लो-हल्लो, हल्लो ग्रेट मैन, तुम यार तेरे सहारे जिन्दगी कट रही है।'

मैं ढींगरे के बैठने, चश्मा उतार कर रुमाल से चेहरा, आँखें और साईडों से गंजे हो चुके अपने सर का पसीना पोंछ कर फिर चश्मा चढ़ाने तक कुछ भी न बोला।

फिर मैंने ढींगरे से पूछा—'कहाँ रहा इतनी देर?' मेरी आवाज अभी तक उचटी हुई थी।

'ओ यार मेरे, बस लेट हो गई। यूनिवर्सिटी तक पैदल आकर स्कूटर पकड़ना पड़ा।'

'मैंने तुझे रिट्ज पर भी ढूँढा?'

'बाई गॉड यार तेरी कसम। यहाँ मैंने भी तुझे बहुत ढूँढा। शुक्र है तुझे इस रेस्तरां में घुसता देख लिया। और फिर मेरी जान अगर तू न मिलता तो मैं इन्टरव्यू पर जाने वाला कहाँ था?'

ढींगरे की बात सुनकर मैंने कुछ हल्का महसूस किया। हम दोनों ने जाने कितने इन्टरव्यू एक साथ दिये हैं। एक दूसरे की अंधी हो चुकी उम्मीद को सहारा देकर हमने बेरोजगारी के जाने कितने बीहड़ रास्ते पार करवाए हैं। बी० एस-सी० प्रथम वर्ष से लेकर एम० एस-सी० प्रथम श्रेणी में पार करने और अब नौकरी ढूँढते रहने तक हम एक दूसरे का साया बनकर रहे हैं। पहले ढींगरा राजेन्द्र नगर में ही रहता था। मेरे या उसके घर की छत पर पूरी-पूरी रातें पढ़-पढ़कर एक साथ आँखें फोड़ीं। उन दिनों लगता संसार की सबसे रोचक चीज गणित है। गणित की लम्बी-लम्बी कैल्कुलेशनों में उतना ही आनन्द आता जितना किसी संगीतज्ञ को संगीत की कोई धुन निकालने या रियाज करने में।

पहले ढींगरा बेहद गम्भीर था। इतना हँसता नही था। अब मेरे सामने बैठा ढींगरा भी पहले वाला ढींगरा नही है। गणित के किसी बेहद मुश्किल, चुनौतीनुमा लम्बे प्रश्न मे डूबा जब बीच मे चश्मा उतार कर रुमाल से आँखें और माथा पोंछता, तब चेहरे से लगता अपने प्रति आत्म-विश्वास से सराबोर यह एक महत्त्वाकाक्षी ढींगरा है। लेकिन एम० एस-सी० के बाद उसका गम्भीर महत्त्वाकाक्षी चेहरा जाने कब एक बहुत बड़ा कहकहा बन गया। अब ढींगरे के चेहरे पर सिर्फ फ्रस्ट्रेशन है, और कुछ नही। बात-बात में शेरो-शायरी करता है। सारी दुनिया की नाकामियाँ समेटकर, जब कुछ भी न बना तो के० टी० ढींगरा बना दिया। कभी-कभी ढींगरे को हँसते-हँसते अचानक उदास हो गया देखता हूँ तो पूछ बैठता हूँ—क्या हो गया यार? इतना उदास! ढींगरा एक गहरी साँस लेकर कहता है—'दिल ही तो है न संगोखिश्त, दर्द से भर आए न क्यों।' फिर अगले क्षण ही जाने कैसे, जाने किस बात पर कहकहा मारकर सारे दर्द को झटक देता है ढींगरा। मुझे ढींगरे के इस स्वभाव से दरअसल ईर्ष्या होती है कभी-कभी।' 'ढींगरा यार, तू सारा दिन हँसता तो रहता है। मैं तो आजकल बस···बस सोया ही रहता हूँ।'

बैरे को बुलाकर मैंने एक कप चाय का आदेश दिया।

ढींगरे ने कहा—'और सुना।'

मैंने पूछा—'बस का टाईम पता कर लिया?'

'सवा तीन बजे।'

'बूट का तसमा तो दूसरा ले लेता', रेस्तराँ से निकलकर टिकट खिड़की की तरफ बढ़ते-बढ़ते ढींगरा कह रहा था।

मैने कहा—'अब वहीं उतर कर ले लेंगे यार।'

बस में बैठते हुए ढींगरे ने पूछा—'सर्टिफिकेट रख लिए सारे?'

'पता नहीं। एयरबैग तो सुमन ने तैयार किया था।' कहते-कहते मैं एयरबैग खोलकर देखने लगा कि कपड़ों के नीचे सुमन ने सर्टिफिकेट का खाकी लिफाफा रखा भी है या नहीं।

'उठ-उठ यार भाटिया, अपना शहर आ गया', ढींगरे ने झकझोरा तो आँख खोल दी मैंने। बस यमुना पुल पार कर रही थी। इन्टरव्यू से वापसी की इस यात्रा में भी मैं ढींगरे की मजाकिया बातें सुनता-सुनता सो गया था और सोता ही आया था।

इन्टरव्यू से न कुछ ढींगरे को मिला, न मुझे। इन्टव्यू क्या था, बेरोजगारों का एक मेला था। उस शहर की बाहरी सीमा पर गाँवों के आस-पास स्थित, दो-तीन वर्ष ही पहले खुला एक कालेज और साथ में हॉस्टल जिसमें विभिन्न विषयों में लेक्चररशिप के लिए एक-डेढ़ सौ प्रत्याशियों के एक रात ठहरने का इन्तजाम था। अगली सुबह इन्टरव्यू दिया और चले आए।

इस बीच जो-जो किया उसका लेखा-जोखा संक्षेप में यही कि बस से उतरे। टेम्पो पकड़ कर शाम को हॉस्टल पहुँचे। जाते ही एक कमरे में एयरबैग रखकर हैंडपम्प के नीचे ठंडे पानी में नहाए। साँझ के धुंधलके में हॉस्टल की बाहरी सड़क पर एक-डेढ़ सौ बेरोजगार एक दूसरे से मिले। अपना परिचय दिया और दूसरों का लिया। दूर-दूर तक फैले वीरान मैदान थे और खेत। कहीं-कहीं एकाध फैक्टरी की निर्माणाधीन इमारत, जिसके बारे में पता लगा कि जाने किन कारणों से निर्माण कार्य रुका हुआ है। शायद कई दिन से। और साथ में थी वातावरण में फैली उमस। जैसे कि हम सब की बेरोजगार जिंदगी की घुटन ही वातावरण में व्याप्त होकर उमस बन गई हो। उस उमस में पसीने से तरबतर खड़े हम सब पिघल रहे थे।

टेम्पो से खाकी नेकर पहने और हाथ में छड़ी लिए प्रिंसीपल साहब आए और पूछ गए कोई तकलीफ तो नहीं। हॉस्टल के बाहर ही टीन के पतरों वाली एक घटिया सी चाय की दुकान पर दो वक्त की रोटी का कामचलाऊ इन्तजाम था।

रात को कमरों में गर्मी लगी, तो सब लोग हॉस्टल की लम्बी-चौड़ी छत पर पहुँच गए और अलग-अलग झुंडों में इधर-उधर बातें करने लगे

या सो गए। मेरे एयरबैग में सुमन ने एक चादर डाल दी थी। ढींगरा चादर नही लाया था। अपने-अपने एयरबैग सिरहाने रख कर ढींगरा और मैं एक ही चादर पर सोए।

पूरे वक्त का कोई टुकड़ा मेरे लिए बोझिल रह कर कटा कोई सो कर। और ढींगरा हैंड पम्प पर ठंडे पानी मे नहाते समय, उस घटिया दुकान पर मिट्टी मिली कच्ची और मोटी रोटी का टुकड़ा काली दाल में डूबो कर निगलते समय, या इन्टरव्यू के लिए कपडे बदलते समय हर बार अपने शायराना अन्दाज मे हँस कर एक ही वाक्य, दुहराता रहा—'तेरी मेरी जिंदगी ऐसे ही कटेगी मादिया।' केवल रात को नींद आने से पहले देखा ढींगरा लेटे-लेटे उठ बैठा है। दूर किसी झुंड में कोई गवैया प्रत्याशी एक दर्दीला गीत गा रहा था शायद। ढींगरा उस गीत को सुनते-सुनते उदास हो गया था और न जाने किस गहरी सोच में डूब गया था।

कश्मीरी गेट बस-अड्डे उतर कर उसी रेस्तरां में चाय पीते-पीते ढींगरा ने पूछा—'अब ? कहां जाएगा ?'

'घर। और कहां।'

ढींगरा जैसे बात सुनते ही अकेला हो गया। कप के हैंडल को पकड़े चाय से निकलती भाप को देखता फिर गहरी सोच में डूब गया। मैं कहीं और देखने लगा था। मुझे कहने को कुछ बात नही सूझ रही थी। यूं ही पूछा—'तू कहां जाएगा ?'

ढींगरा ने कोई उत्तर न दिया। फिर कुछ क्षण की घनी चुप्पी के बाद बुझे-बुझे से स्वर मे बोला—'मेरे तो घर वालो से रिलेशन भी बिगड चुके है यार।'

'चल यार, आज तुझे राजेन्द्र नगर ले चलता हूँ। कई दिन हो गए।'

'चल, आज वहीं चलें।'

सुनते ही मैं भी जैसे हल्का हो गया। दरअसल लौटते समय हम दोनों ऐसे ही अपने-अपने ढंग से पलायन करते हैं। अपने-अपने घर का सामना, अचानक करते समय जो एक कचोट सी महसूस होती है, उसकी तैयारी

के लिए वक्त की जरूरत शायद दोनों महसूस करते हैं। ढींगरा इसलिए कि वह अपने घर के माहौल को दोजख की संज्ञा देता है जिससे मुक्ति का मार्ग केवल नौकरी है। वह उसे मिल नहीं रही। मैं इसलिए कि मेरे माँ-बाप बहुत अच्छे हैं। जरूरत से ज्यादा। इन्टरव्यू में असफलता की बात सुन कर अपना चेहरा बुझ जाने के बावजूद माँ जिस ढंग से मेरे बीमार उदास चेहरे को हाथों में भर कर माथा चूम, आशीर्वादों की बौछार से ठंडक पहुँचाने की कोशिश करती है, वह सब मेरे लिए जैसे असहनीय हो उठता है। और मैं सोचने लगता हूँ ये लोग आखिर मुझे धिक्कारते क्यों नहीं।

अब सोच रहा था ढींगरे के साथ घर जाऊँगा तो सुमन के अलावा और कोई नहीं होगा। माँ गुरुद्वारे मे कीर्तन सुनने गई होंगी। पिताजी उसी कोने मे अपनी पूजा मे ध्यानस्थ होंगे। चाय पीते समय सुमन के पूछने पर उसकी तरफ देखे बिना ही बता दूँगा कि इन्टरव्यू का परिणाम तीन बजे नोटिस बोर्ड पर चिपका दिया गया था। उसमें हमारा नाम कहीं नहीं था। फिर माँ के लौटने से पहले ही ढींगरे के साथ सीढ़ियाँ उतर बाहर निकल आऊँगा। उसके बाद रात देर तक का, कहीं भी न ले जाने वाला दिशाहीन समय झुग्गियों में किसी चाय की दुकान पर या पार्क में कटेगा। अन्त में ढींगरा स्कूटर स्टैंड से स्कूटर पकड़ चला जाएगा। मैं घर की सीढ़ियाँ चढ़ कर अपनी प्रतीक्षा में खुले हुए दरवाजे को हल्के से धकेल कर रसोई मे पहुँच जाऊँगा। थाली से ढका खाना खाकर अपने पलंग पर जा सोऊँगा। इस बीच मुझे आभास होगा कि माँ ने मेरे आने से पहले कई बार चौंक कर आँखें खोली होंगी कि अब मेरे आने का आभास पा कर माँ जाग गई है। छत की तरफ ताकती वह शायद काफी देर तक जागती रहेंगी। और आँखें मूँद कर सो जाने के पहले मेरे पास सोचने को केवल यही बात होगी कि इस समय ढींगरा अपने दोजख जैसे घर में प्रवेश कर, कोई सुरक्षित कोना ढूँढ, शायद बिना खाए ही सो गया होगा।

पाठक, कहानी खत्म हो गई। लेकिन यह कहानी क्या खत्म होगी कभी ? काश, ऐसा किसी दिन हो। इस समय तो बस, वही ढींगरा मेरे सामने है, वही मैं ढींगरे के सामने। एक दूसरे की तरफ न देख कर भी एक दूसरे से जुड़े हैं। कपड़ों में पसीने की दुर्गंध। टाँगें थकावट के मारे कराह सी रही है। और चेहरों पर एक सन्नाटा है जो पस्त हो चुके शरीर को अन्दर तक लोल रहा है। और मैं सोच रहा हूँ, ढींगरा सिर्फ एक कहकहा मारे, कोई शेर कहे, फिर हँस कर बोले—'तेरी मेरी जिन्दगी बचकानी जिंदगी है गुरु, तू बस देखता चल।' कम से कम इस सन्नाटे की चुभन और शिद्दत अगली बार तक स्थगित तो रहे !

सोहन शर्मा : चर्चित युवा कथाकार एवं कवि। 'बर्फ का घाव' तथा 'विकल्प के पक्ष में' दो कविता-संग्रह प्रकाशित। 'गीली लकड़ियों का शहर' कहानी-संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। एक पुस्तक 'अस्तित्ववाद और सार्त्र' भी शीघ्र ही प्रकाशित होगी। एक छोटी पत्रिका 'सहज' का सम्पादन भी करते हैं।

मुनासिब

यह चिन्तित था। कुछ-कुछ घबराया हुआ भी।

चिन्ता काम के समय को लेकर नहीं थी।

वेतन को लेकर भी नहीं।

काम का वहाँ कोई निश्चित समय नहीं था। यूँ, नियम से दूसरे कार्यालयों की तरह सात घन्टे का एक तयशुदा समय था जो घड़ी की सुइयों के साथ लोगों की एक व्यवस्थित भीड़ को ठीक दस बजे उस इमारत के मुख्य प्रवेशद्वार तक लाकर छोड़ देता—और पाँच बजने के साथ ही उस भीड़ को पास के रेलवे-स्टेशन, बस-स्टाप और टैक्सी-स्टैंड की ओर ठेल देता। लगता था मानों समय के हाथ में एक बहुत बड़ा झाड़ू है जिससे वह शहर के अलग-अलग कोनों से लोगों को समेट कर उस इमारत में डाल देता है और ठीक पाँच बजे आकर इमारत को बुहार जाता है। सुनसान, साफ-सुथरी इमारत पाँच बजे के बाद उस बड़े से कूड़ेदान की तरह लगती जिसे नगरपालिका की कूड़ागाड़ी आकर साफ कर गई हो। मुख्यद्वार पर टहलते हुए दरवान, साहब लोगों के चले जाने के बाद निकलने वाले चपरासी और इमारत के पास गुजरते वाले कुछ इक्का-दुक्का लोगों को देखकर लगता मानो कूड़ेदान में इधर-उधर थोड़ा कचरा पड़ा रह गया हो।

बावजूद इस तयशुदा समय के, वहाँ काम का कोई निश्चित समय

नहीं था। काम हमेशा होता रहता। चौबीसों घन्टे। निश्चित रूप से इसका श्रेय इमारत के प्रबन्ध-मन्डल को था। प्रबन्ध-मन्डल के सदस्य जिन्हे देश की औद्योगिक प्रगति मे अपने योगदान का गम्भीर अहसास था और यही अहसास वे अपने कर्मचारियों मे भी जगाना चाहते थे। इसके लिए उनके प्रबन्ध-कौशल की दाद देनी पड़ेगी। कर्मचारियों को बड़े पैमाने पर आकर्षक तनख्वाह और अन्य आवश्यक सुविधाएँ दी गई थी। प्रधान-प्रबन्धक को कार, बँगला, उच्चस्तरीय कर्मचारी वर्ग को वैभवशाली जीवन की आवश्यकताएँ प्राप्त थीं। यहां तक कि निम्न श्रेणी के कर्मचारियों को भी उनकी अपेक्षाओं से कहीं अधिक मिलता था। वेतन के अतिरिक्त कर्मचारियों के बच्चों की पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्था, परिवार के सदस्यों के लिए दवा-दारू का इन्तजाम, इसके साथ कर्मचारियों के खाने और दिन मे दो बार चाय का प्रबन्ध अलग से था। मरने के बाद भी किसी कर्मचारी पर उसके अपने पैसे खर्च नहीं होने दिए जाते थे, अन्तिम-संस्कार की व्यवस्था तक इमारत ही करती।

इमारत के प्रबन्ध-मन्डल के सभी सदस्य अनुभवी, उच्चशिक्षा प्राप्त और कार्यदक्ष लोग थे। दुनिया देखे हुए ये लोग इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि भूख क्या चीज होती है और वह आदमी को कैसे लगती है। इतनी बुरी तरह लगती है कि कोई चुड़ैल भी क्या लगेगी! उन्हें पता था कि आवश्यकताएँ धीरे-धीरे कैसे सुविधाओं में बदल जाती हैं और सुविधाएँ कैसे धीरे-धीरे आदमी को अपना दास बना लेती है। फिर वह सब कुछ बदल देने का संकल्प छोड़ कर दस बजे मुख्यद्वार मे प्रवेश करने वाली भीड़ में मिलकर जीवन भर इस इमारत का अंग होने के अहसास को ढोता रहता है। प्रबन्ध-मन्डल इस बात पर विशेष ध्यान देता कि लोगों को अधिक से अधिक सुविधाएँ कैसे दी जा सकती हैं, सुविधाएँ देने के नये से नये तरीकों का प्रयोग किया जाता।

यह किसी कारखाने की इमारत नहीं थी जिसमें गन्दे और फटे कपड़ों के साथ टूटी हुई चप्पलो वाले मजदूर हाथ मे टिफिन का डब्बा लिए

दाखिल होते हों और एक-एक कर कार्ड पंच कराते हुए अपनी-अपनी जगह पसीने को वन्धक रख मशीनों के सामने बनियान पहने खड़े हो जाते हों। ऊबड़-खाबड़ लोग इस इमारत में दाखिल होने वालों में नहीं थे। यह नफीस टाइयों और चमकते हुए कालरों वाले लोग थे जो हाथों में खूबसूरत से बैग लिए गम्भीर चाल से धीरे-धीरे आते थे। नपी-तुली मुस्कुराहटें फेंकते हुए लिफ्ट में इधर से उधर घूमते या चपरासियों को आवाजें देते रहते। कभी-कभार किसी ऊबड़-खाबड़ आदमी को उस इमारत मे प्रवेश करने का अवसर मिल भी जाता तो वह कुछ दिनों में ही ठीक-ठाक वैसा ही तरतीबवार हो जाता। लगता था इमारत में कोई ऐसा कारीगर बैठा है जो यहाँ आने वालों को रन्दा मार-मारकर छीलता रहता है, उसे तरतीबवार बना देता है जिससे वह उस इमारत से जुड़ी भीड़ से कहीं अलग न दिखाई पड़े।

'यस सर!' महज इन दो शब्दों की ही बात थी याने बात सिर्फ सहमत होने को लेकर थी। और इन दो शब्दों के उच्चारण का अभ्यास हो जाने के बाद वहाँ सब कुछ उपलब्ध था। किसी भी कर्मचारी को किसी बात की आशंका न रहती, उसकी नौकरी और एक आश्वस्त भविष्य—सब कुछ सुरक्षित था।

इमारत मे प्रवेश करने के साथ ही प्रत्येक को उस मुख्यद्वार से होकर गुजरना पड़ता जिसके ऊपर एक बड़ी सी फ्रेम मे खादी के वस्त्रों मे हाथ जोड़े मुस्कुराते हुए भव्य व्यक्तित्व वाले पुरुष का एक विशालकाय चित्र लगा हुआ था। प्रवेश द्वार के दोनो ओर दो दरबान भरी हुई बन्दूकें लिये पहरा दे रहे होते थे। पहली नजर मे देखने से किसी नेता नुमा आदमी का चित्र लगता था जिसकी छाया में होकर वह भीड़ गुजरती थी। चित्र की उपस्थिति में पहरा देते हुए दरबान वहाँ अनावश्यक लगते।

इमारत के तौर-तरीकों के अनुसार वहाँ आये हुए आदमी का नियमों में ढल जाना एक स्वाभाविक बात थी। इसे लेकर घबराने या चिन्ता करने की कोई बात नही थी।

फिर भी, वह चिन्तित था। कुछ-कुछ घबराया हुआ भी।

'मैं चिन्तित हूँ।'

'क्यों?'

'दरअसल…मैं नहीं चाहता कि मेरा तबादला इस विभाग में कर दिया जाय।'

'क्यों?'

'यह सब…काफी असुविधाजनक है। यहाँ आने के लिये मुझे पूरा गलियारा पार करना पड़ता है और तुम जानते हो कि लिफ्ट से निकलने के बाद अपनी मेज तक पहुँचने के लिए कितना फासला तय करना पड़ता है।'

'तो क्या हुआ?'

'तुम…तुम…समझ नहीं रहे हो—गलियारे में गलीचे नहीं बिछे हैं और रोज-रोज इतना चलने से निश्चित रूप से एक दिन मेरा कद छोटा हो जायगा।'

'तो क्या हुआ?'

'मेरे पास अपना कद ही तो है जिसे मैं अपनी पहचान के रूप में इस्तेमाल कर सकता हूँ।'

'अपनी पहचान क्या होती है? यहाँ सब कुछ सामूहिक है। समूह का अंग बनकर ही यहाँ रह सकते हो।'

सामूहिकीकरण यहाँ के प्रशासन का प्रमुख अंग है। आप अलग से कुछ नहीं हैं, जो कुछ भी हैं हमारे कारण हैं, इतनी सुविधाएँ इसलिये नहीं दी जा रही हैं कि आप अपने व्यक्तित्व की अलग से पहचान कराने के लिए चिन्तित हों? इतना सब कुछ जो आपको दिया गया है…वर्षों से बोलने की स्वतन्त्रता, लिखने-पढ़ने की आजादी उसके एवज़ में केवल इतना ही तो करना है कि 'जबान के बदले दिमाग' इस छोटी सी बात को मान लें।

'चिन्ता मत करो, ठीक हो जाओगे। कद छोटा हो जाने पर भी तुम्हारे

गतवे में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। अंग-भंग हो जाने से कुछ नहीं होता। अपाहिजों पर तो यहाँ विशेष ध्यान दिया जाता है।'

'अपाहिजों पर।

'हाँ, वह जो इन दिनों उपसचिव है न—जायसवाल, वह भी शुरू-शुरू में कुछ ऐसा ही महसूस करता था। तुम्हें कद की चिन्ता है। उसे गर्दन की शिकायत थी। उसकी गर्दन हमेशा तनी रहती थी। यहाँ आने के बाद भी।'

'ठीक हो गया?'

'हाँ, उसे कैश पर रखा गया'। दिन भर काउन्टर पर बनी खिड़की में भर डाले हिसाब-किताब करता रहता। शुरू में वह उस खिड़की से डरता रहा पर धीरे-धीरे खिड़की और गर्दन का माप बराबर होता गया। फिर उसके लिए गर्दन झुकाये रखना आसान और सहज हो गया। अब देख लो उसकी गर्दन कभी तनी हुई दिखाई पड़ती है?

लोगों की कार्यक्षमता में निरन्तर वृद्धि होती रहनी चाहिए, इसका दायित्व प्रबंध मंडल ने एक विशिष्ट विभाग को सौंप रखा था। इसके लिए दस अधिकारी नियुक्त थे। सुबह दस बजने के साथ ही 'एयर कंडीशनर' पूरे वेग से चलना शुरू कर देता, छत के सुराखों से शीत लहर निकल कर लोगों के खून में घुलती चली जाती, फिर वे गर्दन और कद की चिन्ता छोड़ फाइलों में डूब जाते। दोपहर के खाने की व्यवस्था भी इसी विभाग के जिम्मे थी। ठंडे खून वाले लोग खाने के प्रति विशेष रुचि रखते हैं यह बात 'कैन्टीन' में लगी भीड़ को देख कर आसानी से समझ में आ जाती थी।

'अजीत कुछ दिनों घर से खाना लेकर आता था।'

'क्यों?'

'कहता था—यह खाना हमारी जात के लोग नहीं खाते। हम लोग साधारण खाना खाते हैं। यह लोग इतना अच्छा खाना क्यों देते हैं?'

'तुम्हारी कार्यक्षमता बढ़ सके इसलिए।'

'पर मुझे तो उलटे इससे घबराहट होती है।'

'क्यों ?'

'मुझे लगता है जैसे मैं किसी विषम स्थिति में फँस गया हूँ, पुलाव की प्लेट में से विस्फोट निकलते दिखाई पड़ते हैं। मैं अपने को चारों तरफ दुश्मनों से घिरा पाता हूँ···खाने के बाद सर भारी हो जाता है···मैं कुछ सोच भी नहीं पाता···कुछ कर नहीं पाता। महज सामने रखे हुए पत्रों की प्रतिलिपियाँ उतार सकता हूँ।···मैं हमेशा स्वादिष्ट खाना खाता रहूँगा···हमेशा प्रतिलिपियाँ बनाता रहूँगा।'

'पर खाना भी तो आवश्यक है।'

'प्रतिलिपियाँ उतारना तो जरूरी नहीं है।'

प्रतिलिपियाँ बनाने का काम बहुत आवश्यक था, जहाँ प्रतिलिपियाँ बनती थीं वह इमारत के महत्वपूर्ण विभागों में से एक था। इस विभाग में मौलिक चीजों की छानबीन होती थी और उनकी पूरी सूची प्रबन्ध-मण्डल के पास रहती थी। इस सूची के आधार पर इमारत की सुरक्षा की व्यवस्था होती, वे निर्णय लिये जाते जिनसे अधिक से अधिक सुविधाएँ दे पाना सम्भव होता, ऊबड़-खाबड़ स्थितियों को ठीक किया जाता। 'एयरकण्डीशनर' की रफ्तार तय होती···।

यह सब इतने आभिजात्य ढंग से होता कि कहीं प्रलोभन की गन्ध तक न होती। औसत कद के आदमी के अहं को ठेस नहीं लगनी चाहिए इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता। इसलिए इन सुविधाओं में कहीं भी प्रलोभन की गन्ध तक न होती। 'प्रबन्ध-मण्डल' की ओर से हमेशा कुछ 'ऑफर' किया जाता, 'ऑफर' पाकर औसत कद का स्नातक तो क्या विशिष्ट क्षमताओं वाले लोग तक स्वयं को धन्य समझते।

इमारत की लिफ्ट की अपनी एक खासियत थी। इसमें नीचे की ओर जाते हुए भी अक्सर लोगों को लगता कि वे ऊपर की मंजिल पर जा रहे हैं! पर इस तरह की गलतफहमियों के लोग आदी हो गये थे। ऊपर जाने की विकास की दिशा समझने का प्रयत्न करना एक

बेमानी बात लगती। फिर यह इतनी महत्वपूर्ण बात थी भी नहीं। किसी को कोई शिकायत नहीं थी।

महीने के अन्तिम दिन का यहाँ विशेष महत्व था। उस दिन प्रत्येक विभाग में लोग अधिक चुस्त-दुरुस्त नजर आते। सर से पाँव तक अज्ञाकारी और तरतीबवार। सुबह की चाय के बाद वे पंक्तिबद्ध बड़े हाल में बनी उस 'काउन्टर वाली खिड़की' के सामने खड़े हो जाते। प्रत्येक व्यक्ति उस खिड़की के सामने पहुँच कर सर झुकाता, पास रखे रजिस्टर पर हस्ताक्षर करता और एक वजनी सा लिफाफा लेकर लौट आता। लिफाफा हाथों में थामे लोग अधिक चौकस नजर आते। न खुश न नाराज। महज मुस्तैद। लिफाफे में कुछ हरे नोट होते थे जिनमें थोड़ी सी गर्मी होती थी। 'एयरकण्डीशनर' की शीत लहर और यह गर्मी मिल कर जिस दोगले असर को जन्म देतीं वह कर्मचारियों को चौबीसों घन्टे उस इमारत से बाँध रखने के लिए पर्याप्त था।

काम के नियमित समय के बाद भी सारा समय इमारत की मुर्दाही चहल-पहल को, उस अदृश्य रन्दे को और उस 'एयर कण्डीशनर' की शीत लहर को सहन कर पाना अब उसे मुश्किल लग रहा था।

पाँच बजने के साथ ही वह अपनी कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। उसकी जेब में सुबह खिड़की से सर झुका कर प्राप्त किया हुआ लिफाफा था। उसे लग रहा था कि यह लिफाफा ही सारी साजिश का मूल है जो उसे अपने इर्द-गिर्द बुने जा रहे षड़यन्त्र का अंग बनने को इतने दिनों से विवश करता रहता है। इसने उसकी चिन्ता और बढ़ा दी थी।

अपना बैग उठाये धीरे-धीरे गलियारा पार करता हुआ वह लिफ्ट तक पहुँचा, अपने साथी की तलाश भी नहीं की। अब कोई भी संवाद उसे अनावश्यक लग रहा था। वह चुप था। चिन्तित भी।

चिन्ता काम के समय को लेकर नहीं थी।

[illegible]

—अपने कद या गर्दन को बचाये रखने की चिन्ता भी नहीं थी। वह सामर्थ्य की उस किस्म को लेकर चिन्तित था जिसे उसे स्वयं बनाना था।

सामर्थ्य! यही एकमात्र विकल्प था अपनी सुरक्षा का।

सी. भास्कर राव : जन्म २२ सितम्बर १९४१। शिक्षा एम० ए० हिन्दी। सम्प्रति टाटा कालेज चाईबासा में हिन्दी के व्याख्याता। मातृभाषा तेलगू परन्तु लिखते हिन्दी में ही हैं। 'कहानी' 'सारिका' आदि पत्रिकाओं में पचास से अधिक कहानियां प्रकाशित हो चुकी हैं।

छूटा हुआ कुछ

जानती थी कि जो कुछ वह करने को सोच रही है बिल्कुल बेमानी है। इस तरह से वह खुद को केवल धोखा ही दे सकती है। लेकिन फिर भी मन की अवशता बड़ी अजीब होती है कि सब कुछ जानते हुये भी उस भ्रम में जीना ना जाने मन के लिये कौन से सुख की बात है। चूँकि उसने तय कर लिया था कि उसे इसी तरह से अपने को धोखा देने का एक नाटक करना है वह अपनी सीट पर उठ बैठी। अब तक उस लेडीज सीट पर वह अकेली थी इसलिए अधलेट गयी थी। बैठकर उसे तयशुदा कार्यक्रम के अनुसार सिर को सीट की पीठ की ओर के रॉड पर निढाल छोड़ दिया और आँखें मूँद लीं। बल्कि मींच ली। तब तक बलपूर्वक मींचती रही जब तक कि और सभी बातों से ध्यान हटकर सिर्फ मिनी की ओर ही नही लग गया। मिनी को अच्छी तरह महसूसने के बाद उसने अपना दाहिना हाथ आगे बढ़ाया और मिनी को टटोलने लगी। जानती थी कि मिनी वहां नहीं है फिर भी उसने मिनी का वहां होना महसूस किया। और मिनी को कंधे से पकड़, पास खींचकर अपने से सटा लिया।

वह अपने इस भ्रम को पहचान रही थी। अपने को दिये जाने वाले इस सपाट धोखे को भी। गोद में आकर बेजान से गिरे हुए अकेले दाहिने हाथ को उसने आँखें खोलकर देख लिया। इस पूरे दौरान भीतर से भर आते मन ने रुके हुए आँसुओं को ढुलका ही दिया। मिनी को बगल में नहीं पाने वाले अपने दाहिने हाथ के प्रति कैसा एक उदासीन भाव उसमें उभरा। गोया इस हाथ से उसके शेष जिस्म का कोई संबंध ही ना हो।

अचानक उसे अरविंद का ख्याल आया और उसने दूसरी ओर की सीट की ओर देखा। अरविंद हाथों की पत्रिका पढ़ना बन्द कर उसी की ओर देख रहे थे जैसे कुछ कहना ही चाह रहे हों। उसने बलात् गोद से दाहिने हाथ को खींचकर ऊपर किया और ठुड्डी तक बह आये आँसुओं को हथेली से पोंछ डाला। थोड़ी देर अपलक विंडस्क्रीन से बाहर की सूनी लम्बी सड़क देखती रही। फिर आँखें मूँद ली। उस तरह बैठना नामुमकिन लगा। दुबारा अधलेट गयी।

दरअसल राची में, बस के भीतर आने के बाद ही वह अधलेट गयी थी। जब कि वह जानती थी, सो नहीं सकेगी। मुडू आने से पहले ही अचानक उसे याद आया कि जब वे लोग, यानी, वह, अरविंद और मिनी टाटा से चले थे उस समय भी, उस बस में, बिल्कुल पहली लेडीज सीट इसी तरह में खाली मिली थी। उसने मिनी को सीट पर लिटा दिया था और खुद एक किनारे बैठ गयी थी। मिनी को तब भी हल्का बुखार लगा ही हुआ था।

उस दिन बस टाटा से चलकर चांडिल तक आयी थी कि मिनी उठ बैठी। शायद कुछ स्वस्थ महसूस कर रही थी या फिर अपने घर जाने की खुशी या उत्साह अनुभव कर रही थी। मिनी खिड़की के पास बैठी थी और केवल बाहर की ओर ही देख रही थी। उसने मिनी की कलाई छूकर देखी। बुखार कुछ तेज हुआ सा लगा और तभी उसने अपना दाहिना हाथ बढ़ाकर, मिनी को कंधे से थाम अपने साथ सटा लिया था। मिनी को शायद यह अच्छा लगा हो, वह उससे सटी पड़ी रही काफी देर तक। बस इसी एक ख्याल ने अब मिनी के बिना, रांची से टाटा लौटते वक्त भी, उसे एक धोखे में क्षण भर जीने का सुख-पालने को बिल्कुल ही अवश कर दिया था।

मूडू में बस रुकी। वह फिर उठ बैठी। एक अजीब बेचैनी थी कि न लेटते आराम मिल रहा था न बैठते। बस में बैठे हुए प्रायः सभी पुरुष यात्री उतर गये। सड़क की दाहिनी ओर के होटलों में चहल-पहल शुरू

हो गयी। अरविंद उसी तरह बैठे रहे पर जाने क्या सोचकर उसके करीब आये और पानी या चाय को पूछा। उसने मना कर दिया। अरविंद नीचे उतरे। हालांकि अब उसकी इच्छा होने लगी थी कि वह एक गिलास ठंडे पानी से अपना चेहरा धो ले। सूजी हुयी सी आँखों को थोड़ी राहत पहुँचे। लेकिन वह मना कर चुकी थी इसलिये दुबारा उसने अरविंद को कुछ नही कहना ही तय कर लिया। दरअसल उसकी मानसिक स्थिति अब ऐसी थी भी नही कि वह अरविंद को बुलाकर कहती कि उसे पानी चाहिये। उसने देखा अरविन्द बाहर खड़े सिगरेट पी रहे थे।

क्या इन्हें दुःख नही होता होगा—उसने अपने से ही सवाल पूछा। उसे लगा शायद अरविंद को इस बात का ज्यादा दुःख है कि मिनी के बिना वह दुःखी है। वैसे शुरू से ही अरविंद मिनी के साथ उसकी तरह जुड़ नही पाये थे। पता नहीं क्यों? जानबूझ कर उन्होंने खुद को जब्त रखा था कि चाहकर भी मिनी से उस कदर जुड़ नहीं पाये, वह नहीं समझ सकी। वैसे वह जानती है कि अरविंद बहुत व्यावहारिक हैं। किसी भी बात को पहले तर्क से तौल-परख लेते हैं। प्रत्येक चीज के बारे में उनकी धारणा इतनी साफ-सीधी है कि कभी-कभी वह झुँझला उठती है। अपने आप पर ही कि वह क्यों ऐसा सोच नही पाती। तर्क से पहले उसमें भावना ही क्यों जोर मारने लगती है।

वैसे साल भर पहले तक भी ऐसी कोई बात नही थी कि मिनी उन लोगों के साथ रहेगी। यों तो विवाह को उन्हें दस साल हो चुके थे। पाँच सालों तक भी संतान की बड़ी बेचैनी, आतुरता, दवा-दारू बनी रही। लेकिन उसके बाद से ही, लगभग यह तय हो जाने के बाद कि उन्हें संतान हो ही नही सकती, वे उदासीन होते गये। अपने जीवन का कार्य-क्रम ही कुछ ऐसा बना दिया कि संतान की कमी के एहसास को अधिक उभरने का मौका ही ना मिल सके। लेकिन दस साल के बाद फिर एक बार संतान की यह बात एक दूसरे रूप में, अप्रत्याशित ढंग से सामने आ जायेगी, यह उन लोगों ने सोचा भी नहीं था।

मिनी की तीसरी सालगिरह थी और उसके भैया ने रांची से बहुत आग्रह के साथ लिखा था कि वे यह सालगिरह काफी धूम-धाम से मना रहे हैं, उन्हें आना ही होगा। पहली सालगिरह मे वे गये थे लेकिन पिछली सालगिरह मे जा नही पाये थे। शायद अरविंद उन दिनों अस्वस्थ थे। उसकी भाभी ने भैया के पत्र के अंत मे दो पंक्तियां लिखी थी कि इस बार उनकी मौजूदगी जरूरी है। उन्हें रांची जाना ही पड़ा।

मिनी के लिये उसने एक पतली सी सोने की चैन बनवा ली थी, बिना लाकेट वाली। मिनी उसके भैया के घर की सबसे छोटी संतान है। मिनी के दो बड़े भाई हैं। एक बहन है। मिनी सोने की वह चैन पाकर बहुत खुश हुयी। वे लोग दो दिन रहे और मिनी उससे चिपकी ही रही। भीतर ही भीतर इस सुख को वह संभाल नही पा. रही थी। जीवन में पहली बार किसी बच्चे ने उसे इतने प्यार से अपनाया था।

जब वे-रांची से चलने को हुये मिनी उनके साथ आने के लिये तैयार हो गयी। मना करने पर रोने लगी। हाथ-पैर पटकने लगी। अरविंद से भी वह काफी हिल गयी थी। दो दिनों में जब भी अरविंद घूमते-टहलने या खरीदारी को जाते,. मिनी भी साथ लग जाती। लौटते समय कभी उसके हाथ में टाफी होती, कभी खिलौना, कभी फ्राक। मिनी उन्हें छोड़ने को तैयार ही नहीं थी। उसे अंदरूनी खुशी हो रही थी कि मिनी उनके साथ चलने को मचल रही है। पर वह कुछ डर भी रही थी कि उसे बच्चे पालने का कोई अनुभव ही नही है। कुछ उल्टा-सीधा काम वह ना कर डाले। लेकिन मिनी के शोर ने किसी को कुछ सोचने नही दिया। वह खुद ही अपने दो चार फ्राक, खिलौने लेकर सबसे पहले भैया की गाडी में बैठ गयी। तय हुआ कि मिनी की तबीयत भर जाने के बाद या तो अरविंद उसे पहुँचा देंगे या फिर रांची से ही मिनी का बड़ा भाई कभी चला जायेगा उसे लिवा लाने के लिये।

साल भर पहले बस से टाटा लौटते समय वे तीनों ही खुश थे। गर्मियों के दिन थे। लौटते में इसी मुंडू में अरविंद ने उनके लिये फैंटा

मँगवा लिया था। मिनी फैंटा की इतनी शौकीन कि एक बोतल के बाद दूसरी माँगने लगी थी। अरविन्द तैयार हो गये थे लेकिन उसके अंदर एक ज़िम्मेदारी का भाव पैदा हो गया था। सोचा कहीं इससे बच्ची को सर्दी-जुकाम न हो जाये। अपनी इस समझदारी पर उसे खुशी हुयी थी। उसने मिनी को टाफी देकर बहला लिया था। बगल बैठी एक महिला ने मिनी की प्रशंसा की थी कि आपकी बेटी बड़ी स्वीट है। एक अजीब सी गुदगुदी जैसे उसके शरीर में फैल गयी थी। उसने सोच लिया था कि टाटा पहुँचते ही वह मिनी की नजर उतार देगी। पहुँचने तक वह तमाम समय मिनी के बारे में ही सोचती रही थी कि वह किस तरह मिनी को रखेगी। कैसे उसके बाल सँवारेगी। कैसे सुलाएगी। कैसे खिलाएगी। और भी ढेर सी बातें। सोच-सोचकर बार-बार खुश होती रही, मिनी को प्यार करती रही। अरविंद को देखा तो वे तटस्थ से ही लगे। वैसे अरविंद अपने भावों को जल्दी प्रकट नहीं करते, यह बात वह जानती थी।

भुड्डू से बस चली तब वह फिर अधलेट गयी। अरविन्द ने एक बार उसे आँखों से टटोलने के बाद पत्रिका में नजर गड़ा ली थी। वह सोचने लगी कि साल भर पहले मिनी के साथ टाटा लौटते हुए कितनी खुश थी वह। खुश! उत्साह से भरी हुयी। सब कुछ जैसे मिनी तक सिमट गया था। और आज! वाकई कुछ ही दिनों में मिनी उसके जीवन की एक अनिवार्यता बन गयी थी। मिनी ने उसे बेहद व्यस्त बना डाला था। पर इस व्यस्तता में भी जो सुख था, उसमें वह पूरी तरह से डूबी रही थी। अरविन्द भी मिनी के साथ हँसते-खेलते रहे थे। पर वह जिस तरह मिनी को अपने जीवन का एक अंग बना चुकी थी, वैसा अरविन्द ने नहीं किया था। अरविन्द सोचते थे, यह तो पराया धन है। दो-चार दिनों-महीनों के बाद वह अपने घर चली जायेगी। फिर बचेंगे, वे ही दोनों। पति-पत्नी। जब कभी भी यही स्थिति आनी है तो मानसिक रूप से उसके लिये तैयार ही क्यों न रहा जाये। इस तरह का संकेत एकाध बार उन्होंने पत्नी को भी दिया था। पर वह समझकर भी इसे लागू नहीं कर

सकी। अरविन्द स्पष्ट शब्दो में इस विषय पर उससे बातें करने से कतराते रहे। इसलिये कि अब तक के जीवन में वह सबसे ज्यादा व्यस्त थी। खुश थी।

अरविन्द ने कई बार मिनी से मजाक में ही रांँची चलने को कहा पर मिनी मारने दौड़ी। बात हँसी-हँसी में ही खत्म हो गयी। उसने अपने भैया-भाभी को कई पत्र लिखे कि मिनी एकदम सहज है, खुश है, रांँची नही जाना चाहती है। कोई तीन महीने बाद मिनी का बड़ा भाई आया सिर्फ मिनी को लेने ही नही। उसे टाटा में कुछ और भी काम था। लौटने समय उसने मिनी को बहुत मनाने की कोशिश की। पर मिनी नही जाने की जिद पर ही अड़ी रही। मिनी का बड़ा भाई लौट गया। उसने खुद ही देख लिया था कि मिनी ने इस घर को किस कदर अपना लिया है। बल्कि अब वह इन्ही दोनों को माँ-पापा कहने लगी थी।

तमाड़ में बस फिर रुकी। अरविन्द ने पानी के लिये पूछा। उसने हाँ कह दिया। वे होटल से एक गिलास पानी ले आये। उसने अपना मुँह धो लिया। आँखो-माथे के तनाव को राहत मिली। तमाड़ में बस ज्यादा देर रुकी नही। वह बैठी ही रही। खिड़की से बाहर देखती रही। पिछले साल तमाड़ में धान के लहलहाते खेतो को देखकर मिनी ने टाटा जाते वक्त ढेरों सवाल पूछ डाले थे। वह उत्तर देकर मिनी को सन्तुष्ट नही कर पा रही थी। बगल में बैठी महिला मिनी के सवाल सुन-सुनकर खूब हँस रही थी। दुबारा उस महिला ने कहा था कि आपकी बेटी सचमुच ही बड़ी प्यारी है। उसके आेंठों तक इस बार शब्द फड़फड़ाते चले आये थे कहने को कि मिनी उसकी बेटी नही है। पर वह नही कह सकी। लेकिन हाँ, दुबारा यह निश्चय जरूर कर लिया था कि वह घर पहुँचते ही अच्छी तरह मिनी की नजर उतार देगी। वह नजर उतारने की विधियों के बारे में गम्भीरता से सोचने लगी थी।

ना जाने एक साल में कितनी बार उसने मिनी की नजर उतारी होगी। कोई भी मिनी की तारीफ कर देता तो वह नजर उतारने के

लिये वेचैन हो जाती। उसे लगता, किसी की नजर लग गयी और मिनी को कुछ हो गया तो! वह काँप जाती! उसे ठीक-ठीक समझ में नहीं आता कि क्यों इतना काँप उठती है वह! मिनी को इतनी गहराई से अपना लिया इसलिये कि मिनी किसी और की अमानत है। उसके पास इतना कुछ समझने का वक्त भी नहीं था। उठते-बैठते, सुबह-शाम, बस वह मिनी के घेरे में रहती। अरविन्द उसे कभी स्नेह से झिड़क भी देते कि मिनी के अलावा भी दुनिया है। होगी, पर उसकी दुनिया मिनी थी।

सहसा ही, एक रात, उन्हीं दिनों उसके दिमाग में एक बात कौंध गयी थी कि क्यों न मिनी को वे लोग, हमेशा के लिये अपने पास ही रख लें। अपनी अमानत बना लें। उस रात वह इस सुख कल्पना की वजह से सो नहीं सकी। न जाने कितनी बार सोयी हुई मिनी को चूमती रही। उसने तय किया कि वह अरविन्द से इस बारे में सलाह करेगी। बल्कि मिनी को स्थायी रूप से अपने पास रखने की जिद करेगी। लेकिन दूसरे दिन उसने अरविन्द से कुछ नहीं कहा। सुबह से उसे यह भय सता रहा था कि अरविन्द इस प्रस्ताव को मानेंगे नहीं। वे साबित कर देंगे कि वह मूर्खतावश और भावुकतावश ऐसी बात सोच रही है जबकि यह मुमकिन नहीं है। तमाम दिन वह इस विषय में अरविन्द से कहने को होकर भी चुप रही।

शाम को उसे एक बात और सूझी कि क्यों न भैया-भाभी को ही पत्र लिखकर पहले अपनी इच्छा जाहिर की जाये। इसमें गलत भी क्या है। छह महीने हो गये। मिनी यहाँ अच्छी तरह रच-बस चुकी है, फिर ऐसा लिखने में हर्ज ही क्या है। दूसरे ही दिन उसने इस आशय का एक पत्र लिखा। अरविन्द को तब भी कुछ नहीं बताया। जवाब की प्रतीक्षा भरपूर आतुरता से करती रही। जवाब आने में देर हो रही थी और उसके मन की आशंकाएँ मूर्त होने लगी थीं कि भैया-भाभी को यह बात बहुत खली होगी। वे नाराज होंगे। भैया को डाँट-फटकार का कोई पत्र जरूर आयेगा या खुद भैया ही एक दिन आ धमकेंगे मिनी को ले जाने के

लिये। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। जवाब आया।

उसने धड़कते दिल से पत्र खोला! पढ़कर खुशी से पागल हो गयी! भैया ने लिखा—हम लोग भी इस विषय में सोच ही रहे थे कि बच्चे की कमी तुम लोगों को बहुत खलती होगी। मिनी भी वहाँ खुल गयी है। क्यों न तुम लोग उसे गोद ले लो। हम भी निश्चिन्त रहेंगे। मिनी खुश रहेगी और तुम लोगों की कमी दूर होगी। पढ़कर उसे लगा जैसे अब मिनी उसकी है। केवल उसकी है। जैसे उसने खुद ही मिनी को अपनी कोख से पैदा किया। उसने मिनी को नये कपड़े पहनाये। मिठाइयाँ मँगवायी। अरविन्द दफ्तर से आये। यह सब देखकर चौंक गये। पत्र पढ़ा। खुश हुये। लेकिन उसकी तरह नहीं। उसने अरविन्द से पिछली बातें भी कह दी। अरविन्द ने पूछा—क्या तुमने फैसला कर लिया? उसने एकबारगी हाँ कह डाला।

अरविन्द ने फिर कहा—'आगा-पीछा अच्छी तरह सोच-समझ लिया?' उसने झटके से कह डाला कि इसकी कोई जरूरत नहीं। अरविन्द ने तीसरा सवाल नहीं पूछा। घर में खुशहाली छा गयी।

लेकिन यह खुशी अधिक समय तक टिकी नहीं रह सकी। मिनी को बुखार शुरू हुआ। शुरू में वे घबराये नहीं कि यह यूँ ही मौसम बदलने के कारण होगा। न राँची चिट्ठी लिख कर इसकी सूचना ही दी। होमियोपैथी दवा करते रहे। बुखार उतर भी गया। लेकिन मिनी सुस्त बनी रही। दूसरे सप्ताह फिर बुखार आया। एलोपैथी दवा शुरू की गयी। एक के बाद एक कई बीमारियों का अनुमान लगाया जाता रहा। कभी विकोनाई, तो कभी मलेरिया तो कभी टान्सिल इनफैक्शन। डॉक्टर दवा बदलते रहे। तीन महीने तक यही हालत रही। बच्ची बिल्कुल सूख गई। अधिकांश पानी वाली चीजों पर ही रखना पड़ता था। ठोस खाना हजम नहीं होता था। आखिर अस्पताल में भी भर्ती करना पड़ा।

अरविन्द ने कहा भी कई बार कि वे राँची इसकी सूचना भेज दें पर वह ना जाने किस भय से मना करती रही और बराबर इसी आशा

के तनाव में झूलती रही कि मिनी अच्छी हो जायेगी। फिर सब कुछ सामान्य हो जायेगा। अस्पताल में मिनी ठीक हुई। घर लाया गया। एकाध हफ्ते बाद फिर वही बुखार का सिलसिला। इस बार जादू-टोना, झाड़-फूँक, पूजा-मनौती भी करती रही। रोती रही। मिनी की सेवा करती रही। ना खाने की सुध ना सोने की।

मिनी भी उदास रहने लगी। ना हँसना, खेलना, ना खिलखिलाना। वह घबरा गयी। उसने तय कर लिया कि मिनी के ठीक होते ही किसी बहाने खुद राँची जाकर मिनी को छोड़ आयेगी। किसी की धरोहर सम्भालना इतना आसान और सहज नहीं है जितना कि वह सोच रही थी। लेकिन ऐसा तय करने में उसे कितनी मानसिक यातना झेलनी पड़ी, यह वह खुद ही जानती है।

अरविन्द ने सलाह दी कि वह पड़ोसी के यहाँ से ट्रंक बुक करके भैया से बातचीत कर ले और पूछ ले कि राँची में अच्छे डॉक्टर हैं तो वहीं मिनी का इलाज हो। यहाँ बुखार में सुधार नहीं हो रहा है। ट्रंक बुक करने की बात तो वह डरते-डरते मान गयी लेकिन खुद भैया से इस विषय में कुछ कहने की हिम्मत उसे नहीं हुई। अरविन्द ने ही फोन पर सारी बातें कहीं। वह बगल में खड़े होकर आँसू बहाते हुए सुनती रही। फोन पर तय हुआ कि फौरन ही वे लोग मिनी को लेकर राँची रवाना हो जायेंगे।

उसकी इच्छा हो रही थी कि अरविन्द अकेले ही मिनी को लेकर चले जायें। वह कौन-सा मुँह लेकर भैया भाभी के पास जायेगी। हँसती खेलती बच्ची गयी थी और रुग्ण बीमार बच्ची लौटाने की ताकत उसमें नहीं थी। लेकिन अरविन्द ने उसे समझा-बुझा दिया कि इससे भैया भाभी को गलतफहमी भी हो सकती है। जो भी स्थिति है, उसका धैर्य से सामना करना ही बेहतर है। इतना घबराना, उलझना ठीक नहीं है। पर फिर भी वह अपने को ना समझा सकी, ना संभाल सकी।

राँची पहुँचते ही घर भर के लोग मिनी को बेतहाशा प्यार करने लगे।

भैया-भाभी ने कुछ कहा तो नही पर उनके चेहरों में छिपे तनाव को वह पहचान पा रही थी। मिनी की भरपूर सेवा होने लगी। सबसे अच्छे डॉक्टर को ऊँची फीस देकर घर बुलाया गया। वे लोग तीन दिन वहाँ रहे। इन तीन दिनो मे मिनी के चेहरे की रौनक कुछ लौटने लगी थी। तीसरे दिन की शाम भैया ने उसे छत पर बुलाकर अकेले मे समझा दिया था कि संभव है मिनी को हम लोगों की याद बहुत सता रही हो और इस-लिए टाटा मे वह इलाज के बावजूद ठीक ना हो सकी हो। अच्छा है कि अब वे लोग मिनी को यही छोड़ जायें।

भैया के सामने वह बहुत रोयी। महीनों का जमा दुख बहने लगा। लेकिन उसे ऐसा नही लगा कि इससे भैया का अमूर्त तनाव कुछ कम हुआ या उनके मन में उसके लिये सहानुभूति जगी या वे अपना फैसला बदलने की बात सोचेंगे। सांत्वना के दो शब्द कहकर ही भैया वहाँ से उतर गये। वह अकेली छत पर काफी देर तक सुबकती रही। बाद में अरविंद आकर उसे नीचे ले गये।

अरविन्द के झकझोरने पर वह चौंकी। आँसू पोंछकर देखा कि टाटा के साक्ची स्टैंड पर बस खड़ी थी। यात्री उतर रहे थे। उसे पता ही नही चला कि बस कब चांडिल पार कर गयी। वह भारी मन लिए नीचे उतरी। दो कदम कदमा जाने वाली टैक्सी की ओर बढ़ाकर भी वह ठिठक गयी!

उसे लगा बस में उसका कुछ छूट गया है! शारद बस में नही। कहीं और, कुछ छूटा जरूर है! अरविन्द ने फिर उसे आवाज दी। पर वह ठिठकी सोच रही थी कि कहाँ क्या छूटा है!

ईश्वर शरण सिंहल : आप पहले अंग्रेजी में लिखते थे। अब कुछ वर्षों से हिन्दी में लिख रहे हैं। 'कहानी' आदि कई पत्रिकाओं में इनकी कुछ बहुत अच्छी रचनायें प्रकाशित हुई हैं। अभी-अभी अक्तूबर १९७६ में आपका एक उपन्यास 'जीवन के मोड़' भी प्रकाशित हुआ है। सम्प्रति रामपुर के एक कालेज में मनोविज्ञान के प्रवक्ता पद पर हैं।

अधूरा

मैं दूर एक उच्च पर्वत-शिला पर अकेला बैठा हूँ। स्थान की निर्जनता मेरे अन्दर तक उतरती चली जा रही है। सामने बद्रीनाथ की क्षीण बस्ती पंख फैलाए-सी बैठी दिखाई देती है। शान्त वातावरण की पृष्ठभूमि में अलकनन्दा के उग्र वेग के भीषण गर्जन का धीमा शब्द निरन्तर बना है जैसे कोई कराह रह हो। एक ओर किसी युवती के उन्नत कुचों-सी पर्वत की नोकीली चोटियाँ सीधी तनी खड़ी हैं जिन्हें मतवाले बादल चूमने में लगे हैं। मैं वातावरण की निस्तब्धता में अपने को डुबा देना चाहता हूँ किन्तु बद्रीनाथ का भव्य मन्दिर मुझे अपनी ओर खींच लेता है।

मुझे कल की घटनाएँ याद आने लगती हैं। 'जय बद्रीविशाल की' का उद्घोष मेरे कानों में गूँजने लगता है। देश के कोने-कोने से आये विभिन्न भाषा-भाषी जनों का विशाल समूह यहाँ टूटा पड़ रहा है। कितनी आस्था, कितना अंधविश्वास। कल्याण या मोक्ष का मोह उन्हें पागल बनाये हुए है। या फिर ये भगवान की भक्ति में डूब कर जीवन के संग्राम से मुक्ति के शान्तिमय आनन्द का सुख चाहते हैं। जिसे न कल्याण चाहिए न मोक्ष, जिसे पुण्य कमाने का भी मोह नहीं है वह क्या करे। उसे केवल खड़े होकर देखना है। मैं भी यही कर रहा हूँ।

इन बच्चों और वृद्धों की भी कमी नहीं है जो हाथों में आरती सजाए क्षण-क्षण मेरे सामने आकर खड़े हो जाते हैं और मस्तक पर बिन्दी लगाने

के लिए आतुर है। किन्तु मैं हर एक से मना करता चला जाता हूँ। सोचता हूँ भीख माँगने के भी क्या-क्या ढंग होते हैं। भक्तों में धनवान भी हैं और दरिद्र जन भी। दरिद्र अधिक हैं और धनवान कम हैं जैसा कि समाज में है। जीवन में सन्तुष्ट कोई नहीं है। धनवानों ने 'ब्लैक' की कमाई के बल पर अपनी सीटें भगवान के सब से पास पहले से बुक करा ली हैं और वहाँ आराम से पालथी मारे बैठे हैं। जो दरिद्र हैं, बूढ़े हैं और जिनके हाथ-पैर थर-थर काँप रहे हैं वे पंक्तिबद्ध दूर तक खड़े हैं। शायद उनका दर्शनों का नम्बर घंटों में आये। मेरी श्रद्धा को ठेस पहुँचती है। मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है कि यह धर्म पूँजीवाद के प्रश्रय में पला है।

जब से बद्रीनाथ की यात्रा पर चला हूँ मुझे किसी का अभाव बुरी तरह खल रहा है। हर क्षण अनुभव करता हूँ कि मेरा एक पक्ष काट कर फेंक दिया गया है। मैं अधूरा हूँ। इसी अभाव से दुखी होकर जिस चीज को देखता हूँ वह अपने में अपूर्ण लगती है। अपने को भूलने के लिये यात्रा में खो जाने की कोशिश करता रहा हूँ किन्तु कहीं भी ऐसा नहीं हुआ कि अपने अपूर्ण होने की भावना से मुक्त हो पाया हूँ। एक खोखली-सी आह मेरे अन्दर से अक्सर निकलती रहती है और सामने की हर वस्तु पर उदासी बन कर बैठ जाती है। इसी अधूरेपन के भाव को लेकर मन्दिर में खड़ा हूँ। लगता है मेरी यात्रा अपूर्ण है और यदि मूर्ति के समक्ष गया भी तो मेरी वन्दना अपूर्ण रहेगी। मैं भगवान के दर्शनों को नहीं जाता। बस बुत बना खड़ा रहता हूँ। फिर आँखें बन्द कर भगवान की मूर्ति की कल्पना कर उससे कहने लगता हूँ—'हे बद्रीविशाल, तेरी शक्ति और यश से अभिभूत होकर इतना बड़ा जन-समुदाय दर्शनार्थ तेरे समक्ष खड़ा है। मैं तेरे दर्शन करने नहीं, तेरी शक्ति की परीक्षा लेने आया हूँ।'

मैं सोचते-सोचते रुक जाता हूँ। एक गहरा मन्थन मेरे मस्तिष्क में है। पूजा की घंटियाँ जोर-जोर से बज रही हैं। भक्ति-रस वहाँ उमड़ा पड़ता है। गन्दी भीड़ से दुर्गन्ध फूट कर मेरे नथुनों में भर रही है। मुझे

उबकाई आने को होती है। किन्तु मैं अपने को रोक लेता हूँ। मन अस्थिर है किन्तु तन स्थिर। वही एक ओर खड़ा सब कुछ देख रहा हूँ जैसे कोई अजनबी हूँ। मैं अपने को अन्दर ही अन्दर टटोलने की कोशिश करता हूँ। आखिर क्या चाहता हूँ। भाव अपने आप आने लगते हैं। मैं आँखें मूँद लेता हूँ और कहता हूँ—'हे बद्रीविशाल, अपनी अतिभौतिक शक्ति का परिचय दो। कुछ ऐसा करो कि अगले वर्ष वह भी मेरे साथ आये और मेरे वाम पक्ष में खड़ी होकर तुम्हारा वन्दन करे, तब मेरा मस्तक तुम्हारे सामने झुकेगा। बस मेरी इतनी सी मनोकामना पूरी करो और मैं तुम्हारा अनन्य भक्त बन जाऊँगा।'

मेरा स्वप्न भग हुआ था। एक अतृप्त इच्छा जो कहीं गहरे में उमड़ रही थी यों व्यक्त हो गयी थी। किन्तु जब भयातक वस्तुस्थिति का बोध हुआ तो अपने ऊपर निर्दयता से हँसी आ गयी। मैं भी कितना मूर्ख हूँ जो असंभव को संभव करने का स्वप्न देख रहा हूँ। मैं तुरन्त वहाँ से चल दिया था और अन्य बातों में मन लगाने का प्रयत्न करता रहा था। वहीं एक स्थान पर संगीत गोष्ठी चल रही थी। कोई साधु महाराज थे जो बड़ा मधुर सितार बजा रहे थे। एक गहरी वेदना उन तारों से निकल कर मेरी वेदना में मिल रही थी। मैं सुनता हुआ खड़ा सोचता रहा था कि क्या वेदना में भी लय होती है।

मेरा मन फिर उस निर्जन शिला पर लौट आया है। मैंने आँखें मल ली हैं जैसे सोते से जागा हूँ। एक बार फिर व्यंग से मुस्करा देता हूँ—वैसे आयेगी मेरे साथ। वह तो अब किसी और के एकाधिकार को स्वीकार कर चुकी है और उसी के साथ अब इस देवता के दर्शनों के स्वप्न देखा करती होगी। 'पिंजरे की मैना' यही नाम तो मैंने उसे अब दे दिया है।

मैं थोड़ी देर तक शान्त होकर बैठा रहता हूँ। अपनी ही दृष्टि में तुच्छ और सृष्टि में टूटा हुआ ऐसा कुछ मैं अपने आप में लग रहा हूँ। धीरे-धीरे आँखें फिर बन्द हो जाती हैं और मैं अपनी आत्मा को बद्री-विशाल की व्याप्त शक्ति में मिला देने की कोशिश करता हूँ। समाधि की,

सी स्थिति हो आती है। कुछ देर बाद अन्तचेतना को अथाह गहराइयों से एक दूसरी इच्छा प्रकट होना चाहती है। मैं अपने में बोलने लगता हूँ—'हे बद्रीविशाल, मैं जानता हूँ तुम में इतनी शक्ति नहीं जो तुम मेरी उस इच्छा को पूरी करो। मैं तुम्हारी सीमाएँ जानता हूँ। तो फिर मेरी दूसरी बात सुनो। यह दूसरी इच्छा पूरी कर दो।'

बोलते-बोलते मेरा कंठ अवरुद्ध हो जाता है और मेरी आँखें आँसुओं में डूब जाती हैं। सामने सब कुछ धुंधला पड़ जाता है। मैं उदासीनता से उन्हें पोंछ डालता हूँ। एक गहरा आलोडन है मेरे अन्दर जो मेरे कण-कण को हिला देता है। एक तीखी चाह जाने कब से मेरे अन्दर जन्म ले चुकी है। मुझे लगता है मेरे अन्दर रुदन भर गया है। मैं कहना आरम्भ करता हूँ—'हे बद्रीविशाल, नहीं मैं अकेला ही दर्शन करूँगा तुम्हारा अगले वर्ष और तुम्हारे समक्ष नमन भी करूँगा, तुम मेरी दूसरी इच्छा पूरी कर दो। तुम अन्तर्यामी हो, सब कुछ जानते हो, मेरी वेदना, मेरा उत्पीड़न, मेरा विनाश। मुझे कहीं एक क्षण को भी चैन नहीं मिल रहा। मेरा दर्द मेरी एक-एक शिरा में बैठ गया है। औरत ने मुझे डस लिया है। मेरे अन्दर विष ही विष है।'

मैं बोलते-बोलते रुक जाता हूँ। लगता है मेरे मुख में कड़ुवाहट घुल गयी है और मुझे निगलना भी मुश्किल पड़ गया है। मैं बेचैनी से इधर-उधर देखता हूँ और फिर मन को एकाग्र करके कहना आरम्भ करता हूँ—'हे बद्रीविशाल, अपनी शक्ति का चमत्कार दिखाओ। मैं अपने से हार गया हूँ। मुझे नयी शक्ति चाहिए। तुम उसको मेरे जीवन से निकाल दो। उसके प्रति मेरे अन्दर ऐसा विकर्षण उत्पन्न कर दो कि मैं उसे कभी याद न करूँ। उसका एक-एक स्मृति-चिन्ह मेरे मस्तिष्क से नष्ट हो जाये। वे प्रेमालिंगन के मदिर क्षण, आँखों-आँखों में वह गहन वार्तालाप, आत्म-समर्पण की स्थितियाँ, आजीवन प्यार के वायदे और मुस्कानों के उपहार, ये सब मुझे अब जीने नहीं देते। मुझे इनकी स्मृति-छायाओं से मुक्त करा दो। मुझे यह समझने की बुद्धि प्रदान करो कि जो हुआ था वह सब

मिथ्या था, झूठा था, जो है और होगा बस वही सत्य है।'

मैं मौन होकर बैठ जाता हूँ और सामने फैली पर्वत-मालाओं की ओर विह्वलता से देखता रहता हूँ। कितना विराट विश्व और कितना तुच्छ-सा मैं—एक नगण्य बिन्दु मात्र। इस भरी-पूरी सृष्टि में बिलकुल अकेला हूँ, अधूरा हूँ। मेरा सत्य केवल मैं हूँ और मेरी अथाह वेदना। शेष सब मुझ से बाहर की चीजें हैं। अकस्मात मेरे अन्दर पीड़ा का भयंकर ज्वार फिर उठता है और मैं उसमें ऐंठने लगता हूँ जैसे किसी ने जहरीला भाला मेरे हृदय के अन्दर सीधा भोंक दिया हो। ऐसी पीड़ा तो अक्सर मेरे अन्दर होती है और तब मैं दोनों हाथों से अपना वक्ष दबा कर बैठ जाता हूँ। जब टीस कम होती है तो मैं फिर कहना आरम्भ करता हूँ—'हे नाथ, मैं कब से अपने से लड़ रहा हूँ, फिर भी उसे जीवन से निकाल नहीं पाया हूँ। मैं जितना उससे भागने की कोशिश करता हूँ वह प्रेत की तरह मेरा पीछा करती है। मैं हर स्थान पर, हर वस्तु में उसी को देखता हूँ। उसने मेरा जीना दूभर कर दिया है। मेरे अन्दर कुछ ऐसा कर दो कि मैं उसको पूरी तरह भूल जाऊँ। उसके साथ जो विशिष्ट सम्बन्ध होने का भाव मुझे अब भी नष्ट कर रहा है उसे मेरे मस्तिष्क से निकाल दो। मैं उसको उसी भाव से ले सकूँ जिससे दुनिया की हर दूसरी स्त्री को देखता हूँ। हे प्रभो, उससे जुड़ा विशिष्ट कुछ भी शेष न रहे। मेरी इस छोटी-सी प्रार्थना को सुनो और पूरा कर दो। मैं तुमसे भीख माँगता हूँ। तुम मेरे पुरुष होने की लाज रख लो। निकाल दो उसको मेरे जीवन से, नहीं तो मुझे मौत…'

मैं बुरी तरह बिलखने लगता हूँ। इस निर्जनता में कोई नहीं है मुझे देखने वाला। इसलिये आँसू निर्भीकता से बह रहे हैं, शायद अलकनन्दा से होड़ करना चाहते हों। मैं जब थोड़ा शान्त होता हूँ तो फिर कहना आरम्भ करता हूँ—' हे बद्रीविशाल, उसका अखंड प्यार मुझे नहीं मिला तो उसके प्रति घोर वितृष्णा तो मुझे दो। मैं तुम्हारे समक्ष नमन करूँगा। तुम मुझे उससे मुक्ति दिला दो।'

मैं मौन हूँ। बद्रीविशाल भी मौन है। कोई आश्वासन नहीं दे पाते। शायद इन्हें अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं है या उन्हें पहले से पता है कि प्रेम के बन्धन यों आसानी से टूटने वाले नहीं। मेरी झोली खाली है। नील गगन के नीचे अलकनन्दा के तीर पर बद्रीविशाल मुझे कुछ नहीं देते। कड़ुवाहट लिये मैं अनायास खड़ा हो जाता हूँ और वहां से थका-थका-सा चल देता हूँ।

अगले दिन प्रातः मैं फिर उसी शिला-खंड पर आकर बैठ जाता हूँ। वे ही दृश्य है, वही मैं हूँ। किन्तु इस समय वह मेरे मन और मस्तिष्क पर और अधिक छायी हुई है। 'हे बद्रीविशाल, मैंने तो उससे छुटकारा पाने की प्रार्थना की थी। मैं तो उसका और अधिक बन्दी बन गया हूँ। ये कैसे बन्धन है। मुझे वह पर्वतीय यात्रा याद आने लगती है जब वह मेरे साथ थी। कितना डूब गया था मैं उसके प्यार में। वृक्ष, पर्वत-मालाएँ, वन्य दृश्य, कल-कल बहते झरने उसके मादक सान्निध्य से कितने सार्थक हो उठे थे। मैंने तब सब कुछ को केवल उससे जोड़ कर देखा था। उससे अलग मैं कुछ नहीं देख पाया था। वह कैसी वर्षा का दिन था। चारों ओर घिरे भूरे बादल घनघोर वर्षा करने में लगे थे और पृथ्वी पर जैसे जल-प्लावन हो। अन्तिम बस-स्टैंड पर हम बुरी तरह भीग गये थे। हिल-स्टेशन का वह बस-स्टैंड, घनघोर वर्षा, वहाँ की कण-कण में व्याप्त तेज़ ठंड और भीगे हुए हम। मैंने देखा वह थर-थर काँप रही थी। मैंने धीरे से अपनी ऊनी चादर उतार कर उसको अच्छी तरह ढक दिया था। वह बहुत आत्मीयता से मेरी ओर देखती रही थी, फिर काँपते हुए बोली थी—'आप को ठंड लगेगी।'

मैं मुस्कराता रहा था। फिर उसकी आँखों में भरी शराब को पीते हुए कहा था—'रानी जी, आप गर्म हो जायेंगी तो इधर अपने आप गर्मी आ जायेगी। अगर इसी तरह काँपती रही तो हम पर लिहाफ़ भी डाल दोगी तो भी कुछ नहीं होगा।'

वह अपने को हथियों में देती हुई मेरे बहुत पास आ गयी थी जैसे

वक्ष से लग जाना चाहती हो। किन्तु बस-स्टैंड का वह जमघट। मजबूरी थी। किन्तु मैंने फिर भी उसके शरीर की सुगन्ध मे बसी ऊष्मा को अच्छी तरह अनुभव किया था। फिर हम होटल मे आ गये थे।

वह संध्या कितनी मोहक थी। बादल छँट गये थे और स्वच्छ नीला आकाश उस रम्य घाटी के सौंदर्य में बराबर का साझीदार हो गया था। उसने खुले मन से अपना शृङ्गार किया था और मैंने उसके जादू भरे बालों में अपने हाथ से एक फूल सजा दिया था। फूल से वह सजी थी या उससे फूल, मैं निश्चित नही कर पाया था। हम कहाँ-कहाँ घूमे थे। पूरी घाटी उसके होने से मुखरित होकर मेरे लिये बिलकुल नया आकर्षण, जीवन का बिलकुल नया संदेश देती रही थी। वह मादक दृष्टियों से मुझे देखती रही थी। फिर अपना सिर मेरे वक्ष पर टिका कर अजीब अन्दाज से पूछा था—'आप मुझे इतना प्यार क्यों करते हैं!'

मैंने उसके लम्बे चमकीले बालों मे अपनी उँगलियां उलझाते हुए कहा था—'बताऊँ।'

'हूँ' वह अलसाई दृष्टि से मेरी आँखों मे गहराई से देखती रही थी।

मैं बहुत भावुक हो उठा था। फिर कहा था—'अपनी पूर्णता को खोजता हूँ तुम्हारे प्यार मे। जैसे नदी सागर मे मिल जाने को बेचैन रहती है, मैं तुम मे मिल जाना चाहता हूँ। शायद मेरी नियति ही तुम मे खो जाना है।'

मैं बोलते-बोलते चुप हो गया था और उसकी वेणी को खोल कर मुलायम केश अपने मुख पर फैला लिये थे। उन्हे मस्ती से सूँघता रहा था। उनमें कुछ नही था सूँघने को—बस एक अजीब सी स्वाभाविक गंध। मगर उस अजीब-सी गंध में भी मेरे लिये कुछ था जो मुझ मे नशा उत्पन्न करता था। वह मेरी गोद में सिमट आयी थी। मैंने फिर धीरे से कहा था—जब तुम मेरी भुजाओ मे आबद्ध होती हो तो जानती हो कैसा लगता है—सारी सृष्टि मेरी भुजाओ में सिमट आयी लगती है।

उसने मेरा भाल चूम लिया था। मैंने आगे कहा था—जीवन की

अकेली यात्रा कितनी अधूरी होती है, कितनी भयंकर, तुम सोच नहीं पाओगी। बस मैं जानता हूँ इसकी यंत्रणा। मुझे छोड़ मत देना।'

उसने नशे के से स्वर में मेरे सिर पर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए कहा था—'कभी नहीं छोड़ूंगी, विश्वास रखियेगा।'

मैं तृप्त हो गया था जैसे तीव्र पिपासा के क्षणों में ठंडे पानी का एक घूंट मिला हो।

थोड़ी देर बाद मैंने कहा था—'मैं तुम्हारे बिना अब जी नहीं सकता, जी नहीं पाऊँगा।'

कहते-कहते कहीं गहरे में डूब गया था। कुछ भी होश नहीं रहा था। लगता था बाँहों में बँधा वह सुगंधित स्त्री-शरीर मेरी आत्मा है जिससे अलग मैं कुछ नहीं हूँ। बस वह शरीर हूँ-जो मेरी भुजाओं में था।

जब होश आया था तो पूछा था—'इस पूर्णता को नष्ट तो नहीं करोगी।'

'नहीं'-एक धीमा स्वर जैसे आँखों से आता हो।

'अगर अपने लिये नहीं तो मेरे लिये अपने मूल्य को समझो, अपने को महत्व दो।'

'अब देती हूँ', उसके अर्धनिमीलित नेत्रों ने कहा था।

उसमें कुछ जाग-सा उठा था। उसने आगे कहा था—'अब तो अपनी कम खूबसूरती पर भी नाज है।'

बोलते-बोलते उसकी आँखें गर्व से चमक उठी थीं।

मैं उसे मंत्रमुग्ध-सा देखता रहा था। फिर कहा था—'प्यार भी क्या अजीब चीज है। इसमें डूब कर जो साधारण है वह असाधारण लगने लगता है, जो सुन्दर नहीं है, वह सुन्दर ही नहीं, सुन्दरतम लगने लगता है। तुम कम खूबसूरत नहीं, बहुत खूबसूरत हो, बेहद खूबसूरत।'

'अब तो खूबसूरत ही मानती हूँ अपने आपको।'

'तो मेरी आँखों से देखना सीख लिया है।'

उसने 'हाँ' कहकर लाज से अपना मुख मेरे वक्ष में गड़ा लिया था।

सहमा बर्फ़ जैसी दो ठंडी बूंदें मेरे ऊपर गिरती हैं। मेरी तंद्रा टूटती है। ऊपर आसमान में आज काली घटाएं घुमड़ रही हैं। लगता है हिमाच्छादित पर्वत-शिखरों को काले भूतों ने घेर लिया है और पर्यावरण में विचित्र भयानकता भर गयी है। अभी अभी फिर भोगे गये अतीत की स्मृतियों का नशा मुझमें है। मैं अपने को इससे मुक्त करना नहीं चाहता।

किन्तु अकस्मात मुझमें प्रतिक्रिया होती है। मैं अपने से कह उठता हूँ—रहने दो इस मरीचिका को। मत रहो अब इस मृत अतीत में। उसका एक-एक स्मृति-चिह्न निकाल कर फेंक दो। मैं बेचैनी से शिला पर बैठा इधर-उधर देखता हूँ। ऊपर घटाएँ और काली हो गयी हैं। तीर सी ठंडी हवा चलने लगी है। मेरे नाखून ठंड में नीले पड़ गये हैं। मेरे पास कोई नहीं है जिसका कुछ ओढ़ लूँ या जिसको कुछ ओढ़ा दूँ। मैं गहरी सांस लेता हूँ। कोई वेदना मुझे कस कर जकड़ लेती है।

मेरा ध्यान उस स्वप्न पर आ जाता है जो रात मैंने बद्रीनाथ में ही देखा था। स्वप्न में वह मेरे साथ बद्रीनाथ की यात्रा करने आयी थी। मैंने स्वप्न में ही उससे कहा था—'प्रिये, पिछली यात्रा कितनी नीरस थी। मेरा अस्तित्व का एक-एक कण किसी अभाव से बेचैन था, तृप्ति के लिये भटकता फिरता था। मुझे कोई कुछ नहीं दे पा रहा था। अब तुम साथ हो तो मेरा कण-कण तृप्त है।'

मैंने देखा था हम जगह-जगह घूमते हुए, होटलों में रहते हुए बद्री-नाथ आ गये हैं। सामने भव्य मन्दिर है। ऊपर पताका फहरा रही है। सोने का छत्र धूप में जगमगा रहा है। इस बार अनुभव हो रहा है कि वास्तव में भगवान की नगरी में हूँ। मैं उसका हाथ पकड़े मन्दिर की सीढ़ियों पर चढ़ता हूँ। आज वहाँ कोई नहीं है, बस मैं हूँ और वह। प्रवेश करते ही सारा मन्दिर उसकी देह की सुगन्ध से महक उठता है। अगर-बत्तियों की भीनी सुगन्ध भी उसी में डूब जाती है। शीघ्र ही मैं बद्री-विशाल की मंजी मूर्ति के समक्ष आकर खड़ा हो जाता हूँ। एक मन होता

है उसी को सिंहासन पर बैठा कर पूज लूं और कहूँ—'हे चरम लक्ष्य, मैंने तुझे पा लिया है। अब कुछ भी पाना शेष नहीं है।'

मैं कुछ क्षण ठगा-सा खड़ा रहता हूँ। वहाँ का वातावरण बड़ा पवित्र और शान्तिप्रद लग रहा है। फिर बड़े विजयोल्लास से कहता हूँ—'हे बद्रीविशाल, मैं तेरी चमत्कारी शक्ति का लोहा मान गया हूँ। पिछली बार अधूरा आया था। इस बार अपने शेष पक्ष को साथ ले आया हूँ, तूने मेरी मनोकामना पूरी कर दी। आज मैं तेरी पूजा करूँगा। मेरी पूजा पूर्ण होगी।'

वह बड़े मोह में मेरी ओर देखती है जैसे मुझे अपने में भर लेना चाहती हो। फिर अपने हाथ मूर्ति के समक्ष जोड़ लेती है। उसे देखकर मेरे हाथ भी जुड़ जाते हैं। वह थोड़ा मुस्कराती है। मैं जानता हूँ उसके मुस्कराने में व्यंग है। शायद मन में कह रही है—'बड़े नास्तिक बनते थे जनाब, बस जरा सी देर में पिघल गये।'

हाँ, मैं पिघल गया। इस समय पूर्ण आस्थावान हूँ। मेरी आस्था की मूर्ति मेरे वाम पक्ष में खड़ी है।

वह नत-मस्तक होती है, देखकर मैं भी मस्तक झुका लेता हूँ। उसने आँखें बन्द कर ली हैं, मैं भी बन्द कर लेता हूँ। वह पास खड़ी भगवान से क्या कह रही है, मैं नहीं जानता। जो मैं कह रहा हूँ वह यह है—'हे बद्रीविशाल, आज मैं धन्य हूँ। मेरा यह क्षण अपने में परिपूर्ण है। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।'

फिर एकदम स्वप्न बदला था। मैं देखता हूँ उसकी माँग में सिंदूर और माथे पर बिन्दी है। जैसे भीषण भूचाल आ जाता है। पृथ्वी हिलने लगती है। सारा मन्दिर प्रकम्पित हो उठता है, सिंहासन डोलता है। मेरे पैर भी डगमगा रहे हैं। एक भयानक ज्वाला ने मन्दिर को घेर लिया है। मैं स्वप्न में देखता हूँ, मैं पागल हो गया हूँ—बाल अस्त-व्यस्त, दाढ़ी बढ़ी हुई और आँखों में भयानक बर्बरता। मेरा पुरुष-रूप विकृत हो गया है। मैं उसको वहीं छोड़कर भाग निकलता हूँ। मेरे अन्दर ज्वाला

ही ज्वाला है। मैं जेब से पिस्टल निकाल कर हर उसी स्त्री को शूट करता चला जाता हूँ जिसकी माँग में सिंदूर है। मेरे मुँह से खून बह रहा है। मैं अचेत होकर कहीं सड़क पर गिर पड़ता हूँ। शायद वे मेरे अन्तिम क्षण हैं।

रात का वह भयानक स्वप्न यहीं भंग हो गया था। मैं बुरी तरह काँप रहा था। हृदय पर जैसे हथौड़ा चल रहा हो। इसी विक्षिप्तावस्था में देर तक बिस्तर में सिमटा पड़ा रहा था। फिर नींद नहीं आयी थी।

मेरी विचार-श्रृंखला भी टूट गयी है और मैं शिला पर बैठा भूकम्प के हलके झटके अब भी अनुभव कर रहा हूँ। मेरा पागल रूप मेरी आँखों में अब भी भरा है। अपने शव को सामने पड़ा देख रहा हूँ। उस पर मक्खियाँ भिनक रही हैं। वितृष्णा से मेरा पोर-पोर भर गया है। चाहता हूँ मेरे सामने गिद्ध इसकी आँखें निकाल कर खा जायें—दुष्ट आँखें। और मैं अलकनन्दा में जाकर जल-समाधि ले लूँ जिससे मेरी हर क्षण सालती वेदना का अन्त हो जाये।

किन्तु नहीं, मैं ऐसा नहीं करूँगा। यह मेरी आस्थाओं के विरुद्ध है। मैं यथार्थ को साहस के साथ भोगना चाहता हूँ। शायद बद्री-विशाल मेरी दूसरी इच्छा पूरी करना चाहते हैं। मेरे अन्दर धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है। मैं सोचता हूँ वह साधारण सी स्त्री जिसे मैंने भावुकता

किसी और के साथ की आवश्यकता अनुभव न हो।'

फिर मैं शिला छोड कर धीरे-धीरे उस राह पर चल देता हूँ जो सूनी और टेढ़ी है।

सुरेन्द्र मंथन : चर्चित युवा-कथाकार। आपने लगभग १५-१६ कहानियाँ लिखी हैं, परन्तु इतनी कम कहानियाँ लिखकर भी आपने अपनी अलग पहचान बना ली है। कुछ कहानियाँ पंजाबी में अनूदित होकर प्रकाशित हुई हैं। एक उपन्यास 'चीखती आवाज़ों के साये' धारावाहिक रूप मे प्रकाशित। सुरेन्द्र मंथन बहुत परिश्रम से लिखने वाले एक महत्वपूर्ण कथाकार हैं।

अन्तर

पति आगे-आगे चल रहा रहा था और पत्नी पीछे घिसटती चली आ रही थी। जब अन्तर काफी बढ़ जाता तो पति अचानक घूम कर पीछे देखता। कुछ देर रुक कर पत्नी की प्रतीक्षा करता। लेकिन उसके पहुँचने से पहले ही फिर चल पड़ता। कुछ दूर तक धीमे-धीमे और फिर पूर्ववत् तेज।

पति को पत्नी पर बेहद गुस्सा आ रहा था। सड़क पर चलता आदमी कहे भी क्या? भीड़ काफी थी। कुछ-एक परिचित चेहरे भी थे। पति रुककर पत्नी की प्रतीक्षा करने लगा। इस बार जैसे ही वह समीप आई, देर से दबाया उसका आक्रोश सहसा उबल पड़ा, 'तेरी तो यह बात हुई, सारी रात रामायण सुनने के बाद सवेरे पूछने लगी—सीता क्या राम की माँ थी?'

पत्नी चौंक गई और फिर मन्द-मन्द मुस्कराने लगी।

जानते हुए भी कि इस मुस्कराहट में झेंप अधिक, दुष्टता कम थी, पति चिढ़ गया। 'फिज़ूल इतना वक्त और पैसा बर्बाद किया? इतनी ज़बरदस्त थीम थी…।'

'अच्छा! बस चुप रहिए अब।'

'चुप की बच्ची!' पति खीझ उठा, 'इतनी आर्टिस्टिक पिक्चर भी

मुझे वोर करनी है। कभी फुर्सत मिले, कपड़े-वर्तन धोने से तो बात है। न कभी कुछ पढ़ना, न सीखना···।'

पत्नी को चुप पाकर, कुछ देर अस्पष्ट शब्दों में बुदबुदाने के बाद, पति पुनः आगे-आगे चलने लगा। जब भी किसी कलात्मक एवं सांकेतिक दृश्य आने पर उसने प्रशंसात्मक दृष्टि से पत्नी की ओर देखा था, उसके चेहरे पर फैली तटस्थता से वह अत्यन्त हतोत्साहित हुआ था। चित्र की समाप्ति पर, राष्ट्रीय गान के बीच, जब हाल में भगदड़ मच गई थी, पत्नी ने खड़े-खड़े पूछा—'इनमें जया भादुड़ी कौन थी?'—तो वह क्रोध से पागल हो उठा था।

विगत रात वोहरा दम्पत्ति को विदा करते ही, उसने निर्णय लिया था कि पत्नी को अपने समान्तर लाने में वह कोई कसर बाकी नहीं छोड़ेगा। प्रमोशन के बाद उसका सोशल-सर्कल भी बड़ा हो गया था। अब तो डिनर या टी-पार्टी पर आना-जाना चलता ही रहेगा। सिर्फ मिसेज शकील नाम से ही काम नहीं चलेगा। वैसे यह नाम भी उसका दिया हुआ था। सीता संबोधन से उसकी आँखों के आगे सीता-माता का इमेज आ खड़ा होता था।

अब खीझ के स्थान पर पत्नी की मूर्खता पर उसे हँसी आ रही थी। उसके भोले-भाले चेहरे की स्मृति से उसका रहा-सहा क्रोध भी जाता रहा। वास्तव में उसे पत्नी से बहुत प्यार था। झिड़क खाकर वह चुप हो जाती तो और भी अच्छी लगने लगती। वह कैसे भूल सकता है कि आज जो कुछ वह बन पाया है, वह पत्नी के सहयोग एवं त्याग से ही। अगर वह सारी-सारी रात बैठ कर पढ़ा था, तो पत्नी भी बीच-बीच में झपकी लेकर, उसके लिए चाय तैयार करती रही थी। बच्चे को अकेले उसी ने सँभाला था। यहाँ तक कि जिस रात इस बच्चे ने आना था, उस दिन का ब्रेकफास्ट स्वयं पत्नी ने बना कर खिलाया था।

'सुनिए!' तेजी से निकट आती पत्नी को देख कर वह रुक गया। आँखों में ढेर-सारी लज्जा भर कर उसने कहा—'अब ले दीजिए, जो कुछ

लेकर देना है। फिर रोज-रोज जान खाते हैं।'

पहले तो वह भौंचक, मुँह बाए, समझने का प्रयास करता रहा। फिर अचानक बात समझ आने पर हँस दिया।

सामने ब्यूटी-कार्नर का बोर्ड था। भीतर घुसते ही दोनों के प्रतिबिंब आदमकद आइने में झलक गए। गंभीर चेहरा बना कर वह दोनों आकृतियों की तुलना करने लगा। पत्नी का रंग अपेक्षाकृत साफ था, लेकिन कद ठिगना। वह कठिनाई से उसके कन्धों को छूती थी। उसका अपना चेहरा इतना सुन्दर नहीं था। लम्बी कलमें, तीखी मूछें और सुनहरी चश्मे ने उसे रोबदार बना दिया था। सबसे बड़ी बात, उसके चेहरे पर खेलती सजगता थी, जबकि पत्नी का चेहरा एकदम तटस्थ था।

उसने कास्मेटिक के बढ़िया माल का आर्डर दिया। कैंथराडीन हेयर आयल, लैक्मी वैनिशिंग क्रीम, हैलो शैम्पू, ऐने फ्रैंच हेयर रिमूवर, इंपोर्टेड हेयर स्प्रे, ए वन लिपस्टिक और पाऊडर।

वह जानता था पत्नी यहाँ भी मोल-तोल करने से बाज नहीं आएगी। इतनी बड़ी दुकान पर दस-बीस पैसे के लिए झगड़ता आदमी अच्छा लगता है क्या? इन्हीं बातों से तो उसकी पर्सनेलिटी डिवेल्प नहीं होती। मिन्नत के स्वर में कहेगी —भाई सा'ब, इतना माल लिया है, चार आने की रियायत तो कर दीजिए अब। इसी आशंका से, जल्दी से पेमैंट करके वह बाहर निकल आया।

'टिंकू के लिए भी तो कुछ लेते। बेचारे ने रो-रो कर आँखें सुजा ली होंगी।' दुकान से बाहर निकलते ही पत्नी ने सुझाव दिया।

सड़क के दूसरी ओर फलों की रेढ़ियाँ खड़ी थीं। पत्नी को आम खरीदने के लिए कह कर वह स्वयं इस ओर खड़ा रहा। पत्नी के हठ के बावजूद वह बच्चे को घर छोड़ आया था। बच्चे को हमेशा गोदी से चिपकाए रखना, उसे बिगाड़ना है। वैसे भी कोई उसे कहाँ तक साथ-साथ लिए घूमे? पत्नी की तो यह हालत है, खाना खाने बैठे और गोदी में बच्चा न हो तो लुटी-लुटी अनुभव करती है। पिक्चर-हाल में भी कुछ ऐसा ही

अनुभव करती रही होगी। तभी उखड़ी हुई लग रही थी।

उसने वहीं से देखा, पत्नी चुन-चुन कर आम लिफाफे में डाल रही थी। फिर वह कुछ मुड़े-तुड़े नोट निकाल कर, एक-एक करके, दुकानदार के खुले हाथ पर रखती गई।

मिसेज बोहरा का मुस्कराता खिला चेहरा, उसकी आँखों में लहरा गया। कल वे लोग देर रात तक बैठे रहे थे। ताश का प्रोग्राम बन गया। एक यह धकोला है कि इसे पत्तों के रंग का पता नहीं। मिसेज बोहरा स्वीप अच्छा खेलती हैं। वह पत्नी की अनभिज्ञता प्रकट करना नहीं चाहता था। उसने फ्लैश खेलने का सुझाव रखा। यह खेल दोनों के लिए नई थी। उसने नियम समझा दिए और कागज पर लिखकर सामने रख दिए। पूरे खेल में पत्नी ने एकदम फूहड़ प्रदर्शन किया। उसकी फेस एक्स-प्रेशन से साफ पता चल जाता था। मिसेज बोहरा इतनी छँटी हुई निकली कि उसके मासूम चेहरे से वह बार-बार ठगा जाता रहा।

पत्नी वापस आ चुकी थी और पूर्ववत् पीछे-पीछे खिंची आ रही थी। उसने निर्णय लिया कि भविष्य में वह धीरे-धीरे कदम रख कर चलने का अभ्यास करेगा। पत्नी को बाईं ओर कुछ आगे करके, स्पर्श करता चलेगा। भीड़ में पीछे चलती पत्नी को कोई धक्का देकर निकल जाए या उस पर कोई रिमार्क कस जाए, तो वह क्या बिगाड़ लेगा किसी का ?

'हैलो डार्लिङ्ग !' पत्नी को बगल में लेकर चलते हुए, उसके कान तक झुक कर, वह शरारत से बुदबुदाया। पत्नी के आरक्त गालों का काल्पनिक स्पर्श कर वह चिहुक उठा। पत्नी का कद छोटा जरूर था, लेकिन गोरे-गोरे गाल भरे हुए थे। शर्मीली मुस्कराहट से उन पर लाली दौड़ जाती। पत्नी की तुलना में मिसेज बोहरा कोई विशेष सुन्दर नहीं थी। बात करने का एक अन्दाज था उसका कि आदमी बस आँखों में झाँकता रह जाए। होंठों पर अचानक खिल उठी मुस्कराहट को समेटने का मन होता था। व्यक्तित्व में कुछ ऐसी ताजगी थी, जो मन को बाँधती थी ! पत्नी के खुले कपड़ों की अपेक्षा उसके चुस्त कपड़ों में से अंगों की

मुर्दनगी साफ बाहर टपकती थी। पत्नी बात भी गलत करती। वैसे तो व्यंग्य समझती ही नहीं थी। समझ भी जाती तो और कर खामोश हो जाती। बाद में झुँझलाती रहती और ऐसे आदमी से हमेशा-हमेशा के लिए कट-आफ होने की बात दोहराया करती।

वह पत्नी के साथ-साथ चलने का प्रयास कर रहा था। पत्नी के एक हाथ में लिफाफा था और दूसरे हाथ से वह बार-बार साड़ी का पल्ला सँभाल रही थी। घिसट कर चलने से चप्पल भद्दी आवाज पैदा कर रही थी। नजरें झुकी हुई थीं, मानो धरती में कुछ खोज रही हों। बाहें अना-वश्यक-सी लग रही थीं और शायद वह समझ नहीं पा रही थी कि इन्हें कहाँ रखे। वह बेहद झुँझला उठा था। उसे लग रहा था कि लोगों की नजरें उन्हीं पर जमी हैं। इस औरत के साथ कहीं भी जाना उसके लिए मुसीबत हो जाता था। न बात का सलीका, न पहनने, और न चलने का ही। पत्नी के लिए घर में, विशेष रूप से हिन्दी पत्रिका आती थी। लेकिन शायद ही उसने कभी एकाध पृष्ठ पढ़ा हो। पढ़ने बैठते ही उसकी आँखें नींद से झपकने लगतीं। स्वयं कुछ पढ़ कर सुनाने के मूड में होता तो कभी वह बच्चे में व्यस्त हो जाती। कभी बीच में ही उठ कर कोई काम करने लगती या उसका ध्यान कहीं अन्यत्र केन्द्रित होता। वह पढ़ते-पढ़ते रुक जाता तो भी वह न टोकती। वैसे वह सारा दिन इधर-उधर के कामों में व्यस्त रहती थी। घर में नौकरानी थी, लेकिन किसी का किया कोई काम उसे कभी पसन्द नहीं आया। दोष निकालने लगती—झाड़ दोबारा देना पड़ता है।...कप-प्लेटें तोड़ जाती है।...साबुन दुगना खर्च होता है। शायद वह सोचती थी, उसके बिना धरती घूमना भूल जाएगी।

घिसटती चप्पल की चपर-चपर आवाज से उसका दिल मितलाने लगा। एक बार उसके मन में आया कि वह पत्नी के कान में धीमे से कह दे कि पाँव जरा ऊँचा उठा कर चले। लेकिन पत्नी ने कभी अपने आपको सुधारने की कोशिश ही नहीं की। आदमी में कुछ नया सीखने

की इच्छा हो तो क्या नही कर सकता ? पत्नी के व्यवहार मे कही भी आकर्षण नही था । कई बार फिजूल-सी वात पर वह ही-ही करके दाँत निपोर देती थी । अभी उस दिन पति को विजली का जवरदस्त शॉक लगा था । एक हल्की चीख-सी भी उसके मुँह से निकल गई थी । आदमी कुछ न करे, सहानुभूति मे दो मिनट मौन खड़ा रहे, तो भी सांत्वना मिलती है । लेकिन वह खिल-खिल करके हँसने लगी । जल कर राख हो गया था वह ।

'साड़ी कही भागी तो नही जाती ?' पत्नी दोबारा पल्ला संवारने लगी तो उसने टोक दिया । इस आकस्मिक आक्रमण से वह सहम गई ।

'पाँव ऊँचा उठा कर नही चला जाता ?'

पत्नी और भी धीमे-धीमे चलने लगी ।

'नजर ऊपर उठा कर चल । कोई खा नही जाएगा ।'

इस बार पत्नी ने मूक विरोध किया । उसी प्रकार धरती मे दृष्टि गड़ाए चलती रही ।

वह फिर आगे बढ़ गया और पत्नी पीछे छूट गई । पत्नी की ईमानदारी के बावजूद कुछ था जो उन्हे एक साथ आगे बढने से रोके हुए था । अनेक बार विगत अप्रिय को भूल कर, उसने पत्नी को अपने अनुकूल चलने को तैयार किया । लेकिन बीच में कोई छोटी-मोटी घटना घट जाती, जिससे वह एकदम उत्तेजित हो उठता ।

इसी वोहरा से संबंधित एक घटना है । वास्तव मे वोहरा की सिफारिश पर ही उसे यह स्टेशन मिला था । बहुत जबरदस्त पोलटिकिल बैक है इस आदमी की । वैसे तो ट्रेनी-पैन्नो है, लेकिन डायरेक्ट-सिलैक्शन मे पहले प्रमोशन ले गया था । भाग्य ने भी सदैव उसका साथ दिया । उम्र भर गन्दी नालियों में खाक छानता फिरा, लेकिन शादी के मामले में फिर बाजी मार गया । अच्छी-भली, पतली-चुलबुली लड़की मिल गई थी उसे । उस दिन, प्लाजा में, इस वोहरा की जिद् पर, उसने भी दो-तीन पैग ले

लिए थे। ऐसे मौकों पर ज्यादा इन्कार करना भी अच्छा नहीं लगता। ऐसी बात भी नहीं कि उसके लिए यह कोई नया अनुभव था। पहले भी वह दो-एक बार पीकर घर लौटा था। पत्नी की सौगन्ध के बावजूद वह बोहरा के अनुरोध को टाल नहीं सका। जीवन को ठोस नियमों में बाँध कर तो जीया नहीं जा सकता। कई बार हृदय और मस्तिष्क के द्वन्द्व में हृदय बाजी ले जाता है। वापसी पर उसके पाँव जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। बोहरा की लच्छेदार बातों से वह स्वयं को हवा में उड़ता अनुभव कर रहा था। वह प्यार से बोहरा का हाथ दबाता रहा। शायद उसे स्वयं सहारे की आवश्यकता अनुभव हो रही थी। उससे कहीं अधिक पीने के बावजूद बोहरा स्वाभाविक दीख रहा था। बहुत संयत होकर उसने द्वार खटखटाया। एकदम गम्भीर बनने का उपक्रम किया। लेकिन फिर भी पत्नी ने भाँप लिया, और वहीं, बोहरा के सामने, तहलका मचा दिया। इतना ही नहीं, क्रोध में आकर उसे तू-तू कह कर संबोधित करने लगी।······

'रिक्शा न कर लें?' अचानक रुककर, मनःस्थिति के बिलकुल विपरीत, पति ने सुझाव रखा। पत्नी भी खड़ी हो गई और खाली रिक्शा की प्रतीक्षा करने लगी। उसे आश्चर्य हुआ। वह सोच रहा था कि पत्नी फिर कंजूसी दिखाएगी और उसे कुछ कहने का अवसर मिल जाएगा। कोठी दूर भी नहीं थी। रिक्शा के रुकते ही, बिना प्रतीक्षा किए, वह जल्दी से उसमें जा बैठी।

उस दिन बोहरा के संमुख वह क्रोध पी गया था। बोहरा उसे अपने घर ले गया। मिसेज बोहरा, उसे इस दशा में देखकर चौंकी लेकिन फिर मुस्कराने लगीं। बोहरा समझदार आदमी है। मिसेज के आगे शकील की बात चला देता तो उसकी कितनी मद्द होती। बोहरा के हठ करने पर उसने खाना भी वहीं खा लिया। वह संतुष्ट था कि सब जानते हुए भी मिसेज बोहरा ने उनसे घृणा नहीं की। वह उसी तरह हँस-हँस कर बातें करती रही। एकाध प्यार भरे उलाहने के सिवाए उसने बोहरा

को भी कुछ नहीं कहा। बोहरा की रात कितनी बढ़िया गुजरेगी—वह सोच रहा था।

रात वह देर से लौटा। बोहरा उसे शांत रहने का परामर्श देकर बाहर से ही वापस चला गया था। लेकिन उसका दबा आक्रोश भीतर ही भीतर विकट रूप धारण कर चुका था। आठ-दस बार द्वार थपथपाने के बाद उसने द्वार खोला। बच्चा सो चुका था। पत्नी भी पुनः लेटने जा रही थी। बालों से पकड़ कर उसने उसे नीचे फर्श पर गिरा दिया। एक तीखी चीख···और फिर सिसकियाँ।···जिन्दगी में पहली बार उसने पत्नी पर हाथ उठाया। गालों पर उँगलियों की छाप स्पष्ट उभर आई। पत्नी ने मर्माहत दृष्टि से उसकी ओर देखा। सिनेमा की रील-सा कितना कुछ चेतना की आँखों के सामने से गुजर गया। उसका दोबारा उठा हाथ वहीं रुक गया। उसने सिर पीट लिया और फिर दीवार पर पटकने लगा।···

रिक्शा में साथ बैठी भोली-भाली पत्नी के प्रति उसके मन में अचानक बेहद प्यार उमड़ आया। चूनान की साड़ी में वह बिलकुल गुड़िया-सी लग रही थी। पत्नी की सुन्दरता पर उसे कभी आक्षेप नहीं हुआ। शायद वह उससे इक्कीस ही पड़ती थी। वह चाहता था इस सौन्दर्य का भरपूर उपयोग किया जाए। चरित्रशील बनने के उपक्रम में शरीरिक आनन्द प्राप्ति की उपेक्षा करने से उसे बेहद चिढ़ उठती थी। ऐसे अवसरों पर पत्नी द्वारा उसे कामुक सिद्ध करने की कुचेष्टा उसे भड़का देती। वह लात मारकर उठ खड़ा होता।

दो-तीन बार उसे मिसेज बोहरा के साथ एकांत में बैठने का अवसर मिला था। गहरी आत्मीयता के बावजूद उसके व्यक्तित्व में कुछ था कि आदमी निश्चित रेखा पार करने का दुःसाहस नहीं कर सकता था। कई बार आदमी अधिक कुछ नहीं, मानसिक तृप्ति ही चाहता है। सांकेतिक शैली में ऐसा मूक आदान-प्रदान जो बीते सुखद क्षणों की सुवासित गंध सा मन-मस्तिष्क को छा लेता है। पत्नी के ठण्डे व्यवहार की अपेक्षा उसे

मिसेज़ वोहरा का वर्जित निमंत्रण अधिक आकर्षक लगता। आँखें बन्द करके, उसने कई बार, पत्नी के स्थान पर मिसेज़ वोहरा की कल्पना करके, प्रेमालाप किया था।

रिक्शा कोठी की ओर घूम गया था। दूर से ही बच्चे के रोने का स्वर कानों में पड़ रहा था। उसने पत्नी का हाथ ज़ोर से दबा दिया। रिक्शा आँगन में प्रवेश कर रहा था। उसे आशंका थी कि पत्नी यहीं से चलते रिक्शे से कूद कर, भागती हुई आँगन पार करती, रोते बच्चे के मुँह में छाती ठूँस देगी। रिक्शा वाले से आँख मिलाना भी उसके लिए कठिन पड़ जाएगा। रिक्शा के रुकने पर वह पहले उतरा। उसने पैसे दिए। तब तक पत्नी भी उतर आई थी। वह मंथर गति से कमरे की ओर बढ़ रही थी। वह भी साथ-साथ चलने लगा। बच्चे के रुदन के बावजूद वह संतुष्ट था। एक मिनट अधिक रो लेने से बच्चा दुबला नहीं पड़ जाएगा।

कपड़े बदल कर वह बैठक में आ गया। दूसरे कमरे में, बच्चे का रुदन अभी भी चल रहा था। बैठक में घुसते ही वह चौंक गया। सोफ़े पर अधलेटी पत्नी पत्रिका के पृष्ठ उलट-पुलट रही थी। होंठों में मुस्कराते हुए वह भी साथ की कुर्सी पर बैठ गया। पत्नी तटस्थ रही। बच्चा रुक-रुक कर चिल्लाने लगता था। उसने ध्यान से पत्नी की ओर देखा। उसका इस तरह निश्चिन्त होकर बैठना उसे खल रहा था। इस औरत की हर बात अजीब थी। काम उचित समय पर ही किया शोभा देता है।

वह उठ कर बच्चे को गोदी में ले आया। लिफ़ाफ़े से आम निकाल कर उसने बच्चे के आगे ढेर कर दिए। वह उनसे खेलने लगा, लेकिन जल्दी ही उकता कर फिर चिल्लाने लगा।

'लो, इसे ज़रा दूध पिला दो। भूखा है।' उसने बच्चे को पत्नी की गोदी में डाल दिया।

पत्नी ने करवट बदल ली और पढ़ने का उपक्रम करती रही। बच्चा एक ओर लुढ़क गया और चिल्लाने लगा।

'आख़िर बात क्या है?' उसने ज़ोर से पत्नी को झकझोर दिया।

पत्नी तेज़ी से पलटी। आँखें रोने से गीली हो रही थीं।

'मेरा कसूर यही है न', उसके स्वर में आक्रोश था, 'मैंने सब एक साथ लुटा दिया। तुम्हें बाँध रखने को अब मेरे पास है भी क्या', उसकी आवाज़ रुद्ध गई।

पति ने आँखें फैला कर पत्नी की ओर देखा।

पत्नी सुबकने लगी थी। पत्रिका सोफे के नीचे बन्द पड़ी थी। आगे बढ़ कर पति ने, पत्नी की धुंधली आँखों पर हाथ रख दिया।

पत्नी अभी भी सिसक रही थी।

श्यामला हार्वे : आपकी अभी तक कम रचनायें ही प्रकाशित हुई हैं। परन्तु आपको जितनी रचनायें भी प्रकाशित हुई हैं वे आकर्षित करती हैं। यह भी आशा है कि भविष्य में आप और भी महत्वपूर्ण रचनायें दे सकेंगी। सम्प्रति बम्बई में।

एक कांटे पर चलती घड़ी

'अजीब है यह इतवार का दिन भी ! हफ्ते भर तो इसकी प्रतीक्षा रहती है; लेकिन जब आता है तो बिताए नहीं बीतता।' एक लम्बी उबासी लेकर सीमा ने घड़ी पर नजर डाली जिसका एक अकेला घण्टों वाला काँटा दो और तीन के ठीक बीच में था।

'चलो, अच्छा ही हुआ···घड़ी का गिरा हुआ काँटा अब तक नहीं लगवाया गया है···अनजिए मिनटों का बीतना कम सालता है ऐसे···।' सीमा का ध्यान अन्दर के कमरे से आती फिल्मी धुनों की हल्की आवाज पर गया। कुनू शायद ट्रान्सिस्टर से कान लगाए बैठी थी।

'दीदी, आज शाम को कुछ घण्टों के लिए अपनी गुलाबी साड़ी उधार दोगी ?' चुलबुली अरु आशायुक्त आँखों से खड़ी पूछ रही थी।

'क्यों, कहाँ जाना है ?'

'अर्चना के घर···पार्टी में जाना है।'

'ले लेना।'

'और दीदी, आज गजरा भी मैं पन्द्रह पैसे वाला खरीदूँगी।' मचलते हुये अरु बोली।

'अच्छाऽ बाबाऽ ! अभी शाम होने में काफी वक्त है···जरा सो लेने दे···फिर जो जी में आए ले लेना।' और करवट बदलते हुये उसने सोचा, 'इच्छाएँ भी कितनी उत्कट होती हैं शुरू-शुरू में···?'

'सोमू बेटे···सरला जी के घर से कोई आए तो कहना 'स्वेटर' आज

रात तक तैयार हो जाएगा और विट्टू उनके घर पहुँचा आएगा।...मैं ज़रा विनू के घर जा आती हूँ...वह भी एक क्रोशिए वाला शॉल बनवाना चाहती है...गणेश पूजा भी महीने के अन्त में ही पड़ रही है...।'

और अन्तिम वाक्य अपने-आपसे कहती हुयी सीमा की माँ अन्दर के कमरे में जाकर साड़ी बदलने लगी।

'गणेश पूजा के बदले हम पेट-पूजा ही कर डालें तो क्या फर्क पड़ेगा अम्माऽऽ !!' प्यार भरा आक्षेप करते हुये सीमा ने पूछा, 'गणेश जी हमसे नाराज़ हो जाएँगे क्या ? इन दिनों तो वे खुद अपना सिंहासन सम्हालने की चिन्ता में होंगे...।'

सीमा की बात शायद माँ के कानों तक नहीं पहुँची...कुनू किसी बात पर उनसे उलझ पड़ी थी।...ऐसा आजकल अक्सर होने लगा था कि कुनू अपनी हर निराशा, असफलता और हताशा की जिम्मेदार माँ को ही समझती थी। और जी-भर के माँ को खरी-खोटी सुना लेने पर घण्टों बैठकर रोया भी करती...।

छत की ओर देखते हुये सीमा ने याद किया...अरसा हो गया था उसे आँसू बहाना भी छोड़कर...।

माँ जा चुकी थी। कुनू पता नहीं रो रही थी या नहीं। ट्रान्सिस्टर अब भी चल रहा था।

'सीमाऽऽ...तुम्हारी दोस्त...शाली आ रही हैऽऽ...।' क्रिकेट खेलना रोककर विट्टू ने घोषणा की।

झट उठ कर सीमा अपना तकिया और चादर अन्दर पटक आई... साड़ी ठीक की और कुनू को चाय का काम सौंपकर मुँह-हाथ धो आने को लपकी।

कुनू ने ज़मीन पर बिछी शतरंजी पर शाली को बिठाया। हाल-चाल पूछ लेने पर दीवार से पीठ टिकाते हुये शाली ने पूछा, 'उस एम० ए० पास लड़के का क्या हुआ ? मैं तो निमन्त्रण-पत्र की प्रतीक्षा करती रही और सीमा ने पत्र में भी कुछ नहीं लिखा ?'

'उन्ही की तरफ से बात तोड़ दी गई', बुनू ने उत्तर दिया, 'उनकी अपनी अपेक्षाएँ थीं···लड़की का सुशील और पढ़ा-लिखा होना ही काफी नही था···और फिर पिताजी की बेकारी और दकियानूसी का···।'

'लेकिन वो दूसरा रिश्ता तो रामी बुआ की तरफ से आया था?' लगभग टोकते हुये शाली ने पूछ लिया।

'सीमा को पसन्द नही आया।'

'कैसी हो शाली? गुड्डो को कहाँ छोड़ आईं?' टावेल से मुँह सुखाते हुये सीमा ने प्रवेश किया।

'नई भाभी के पास, और माँ भी घर पर ही है।'

'याने तुम दोनो के इधर आ जाने से पतिदेव बिलकुल अकेले पड़ गए होंगे?' टावेल को घूँघट की तरह आइने पर ओढ़ाकर सीमा भी शतरंजी पर आ बैठी।

'अकेले क्यों?···उनकी मम्मी हैं, डैडी हैं और दो-एक रोज में राकेश भी होस्टेल से आने वाला है।···तुम सुनाओ···कोई प्रगति हुयी इस बीच?'

'हांऽ क्यो नही?' लगभग हँसते हुये सीमा ने कहा, 'पिछली बार जब तुम आई थी तो मैं पच्चीस की थी अब सत्ताइस की होने वाली हूँ परिस्थिति का सामना डट के किया जा रहा है क्योकि हार मानने वालो मे से हम हैं ही नही··।'

'अरे···घर के और लोग कहाँ हैं? कोई दिखाई ही नही देता?' अन्दर के कमरे की ओर झाकते हुये शाली ने कहा।

'किशोर ने एक नई नौकरी पकडी है जहाँ छुट्टी बुधवार के दिन होती है···और अम्मा अभी-अभी किसी काम से बाहर गई है।'

'अरे हांऽऽ···उन्हें भी बधाई देनी है·· कमाल है इस उम्र में भी तुमसे मेट्रिक पास करवा ही दिया···?' आँखें फैलाते हुये शाली बोली।

'मैं क्या करवाती? ये तो अम्मा थी जो अपने निश्चय पर अडिग रही।'

'जीवन को झेलना और उससे जूझना भी कोई तुम्हारी अम्मा ही से सीखे।'

कुछ देर चुप रह कर सीमा ने कहा, 'और फिर आज-कल 'लेबल' ही तो सब कुछ है। ट्यूशन पढने आने वाले बच्चों की ग्रेजुएट माँएँ भी पूछने लगी कि बच्चो को पढाने वाली 'टीचर' कहाँ तक पढी है?'

शाली गौर से देखती रही…सीमा का चेहरा पहले ही की तरह मोहक था। लेकिन कुछ हल्की लकीरों की वजह से इस बार वह कुछ कुम्हलाया सा लग रहा था।

'अच्छा, ये बताओ, आए रिश्तों को रिजेक्ट करते जाने का यह सिलसिला कब तक चलता रहेगा?'

'जब तक 'प्रिन्स-चार्मिङ्ग' नही मिलते।'

'प्रिन्स-चार्मिङ्ग क्या अपने-आप मिला करते है? मिलवाना पड़ता है उन्हें तो…।' डपटते हुये शाली ने कहा।

'हाए, यही आकर तो बात रुक जाती है…न किसी से परिचय कर पाते है न परिचितो पर विश्वास…। पढाने भी जाते है तो लड़कियों के स्कूल…कम से कम फिल्मी दुनियाँ होती तो अब तक वे गाते हुये सरे-राह या बस-स्टाप पर मिल ही गए होते…।'

इतने में कुन्नू चाय की प्यालियाँ ले आई और कहकहो की जगह चाय की चुस्कियों ने ले ली।

'मेरी बात मानो…आने वालों में से ही किसी को 'प्रिन्स' समझ कर स्वीकार लो…।'

'कहने का मतलब यह हुआ कि शेरनी अगर भूखी हो तो उसे घास पत्ती जो मिले वही खा लेना चाहिए?…ऐसा ही कर दूँ तो अम्मा के और मेरे जीवन में फर्क ही क्या रह जाएगा?' सीमा ने चाय की प्याली नीचे रख दी और बाएँ हाथ की चूड़ी उतारते हुए फिर बोली, 'जरा सोचो, जिस जीवन को अपनी इच्छानुसार बनाने के लिए इतने साल 'इनवेस्ट' कर दिए, उसे बेहतर नहीं बनाया जा सकता तो क्या बदतर

होने से भी नही बचाया जा सकता ?'

शाली निरुत्तर चाय पीती रही, लेकिन मन ही मन उसे जरा गर्व भी हो रहा था अपनी इस समझदार और स्वतंत्र विचारों वाली पीढी पर। जिसकी विशेषता है, दूसरो के अनुभवो से सबक सीखना और उठाए हर कदम की उपयोगिता और सार्थकता को तौलते चलना।

'यह क्यों भूलती हो कि हमारे पास 'तलाक' नाम का एक अस्त्र भी है ?'

'है ऽ तो ऽऽ। लेकिन रोग-निर्णय मात्र से क्या बीमारी दूर हो जाती है ?' अपनी उतारी चूड़ी को दोनो तर्जनियो की मदद से गोल-गोल घुमाते हुये सीमा बोली।

'जीवन सिर्फ गेरेन्टियों के बल पर ही क्या कभी चला है ? अपनी बडी बहन से ही पूछ देखो न।'

खुशी से लबालब भरा बडी बहन का चेहर सीमा की आँखों के आगे झूम गया। लेकिन दोनो हाथों से अपने बालों को बाँधते हुये उसने लापरवाही से उत्तर दिया, 'कौन बिना 'सेफ्टी बेल्ट' के समुन्दर में कूदे ? भई, हमसे तो अपनी ही इच्छाओं, आकाक्षाओं और संस्कारों का बोझ नही सम्हल रहा।' और कुछ बनावटी शोखी के साथ बात को उडाती हुई वह फिर बोली, 'जल्दी क्या है ? शादी तो बीस साल बाद भी 'कम्पेनियनशिप' की खातिर की जा सकती है ?'

'और मौसी जी की खातिर ?... उन्हें क्या भला लगता होगा जवान वेटियों को इस तरह…।'

'मौसी जी को छोडो…असली कुढन तो तुम्हे हो रही है लोमड़ी मौसी ऽऽ।' पंजा मारने के अन्दाज में सीमा कहती गई, 'पूछ कट गई है आपकी तो हम पूरी हमदर्दी है, लेकिन हमारी पूँछ भी कटवा देने पर क्यों तुली हुई हैं ऽ ?'

बे-रोक-टोक झरती अपनी स्वस्थ हँसी को काबू में लाते हुये शाली

ने आँखों ही आँखों से उसे डाँट देने पर पूछा, 'चलो अपनी 'टीचरी' का हाल ही बताओ···'पे-स्केल' बढ़ गई होगी अब तक ?'

'बस, वही नॉव-क्लाइम्बिंग और महीने भर की खींच-तान···चलना है कल मार्दियों के नए शो-रूम ?'

'कल तो शायद नहीं आ पाऊँगी। हाँ, परसों 'कैजुअल' मारने की तैयारी रखना।'

शालों के चले जाने पर सीमा ने अन्दर ही अन्दर इतनी देर हँसते रहने की थकान-सी महसूस की। मन, बुद्धि, विवेक सभी को सुन्न करता एक अजीब-सा सन्नाटा उतर आया। सन्नाटा, जो एक योद्धा को नंगी लपलपाती तलवारों की निरंतर सनसनाहट के बीच भी पल भर को आक्रान्त कर जाता है।

'टा ऽ टा ऽऽसीमा आंटी।' चौंक कर सीमा ने देखा। पड़ोस में रहती रमा अपने दोनों बच्चों को, उनके कंधों पर हाथ रखे, कार की तरफ ले जा रही थी, जहाँ उसके पति पहले ही से उनकी प्रतीक्षा में बैठे थे। उन्हें देखते रहने की इच्छा के बावजूद, हाथ उठाकर उसने उन्हें 'विश' किया और अन्दर की ओर मुड़ गई।

कमरे की तरफ जाते हुये उसने देखा, अम्मा बाहर के कमरे में शान्ती मौसी के साथ बैठी थीं। अभ्यस्त हाथ सरला जी का स्वेटर बुनते जा रहे थे और वे खुद पूरी दिलचस्पी के साथ उनकी बातें सुन रही थीं। अम्मा की यह सक्रिय स्थितप्रज्ञता देख उसे जितना ही अच्छा लगता उतना ही एकान्त क्षणों में उस पर आश्चर्य भी होता।

अरु पार्टी में जा चुकी थी। कुनू की अनुपस्थिति में ट्रान्सिस्टर भी खामोश पड़ा था। कमरे की जानी-पहचानी घुटन के बीच आते ही उसकी दृष्टि आदतन आइने में अपने बदन के कसाव और बालों के कालेपन पर जा रुकी। ओठों ने भी फैलने की कोशिश की लेकिन मुस्कराहट की जगह सिर्फ एक कसैलापन बिखर कर रहा गया।

मेज पर रखी पत्रिका और अपना तकिया उठाकर वह फिर उसी जगह आ लेटी। पलस्तर उतरी बदरंग दीवारें हमेशा की तरह निर्जीव खड़ी थीं। उसके विचारों में इस वक्त न अम्मा थी न शानो। 'मुँदी, बोझिल पलकों के नीचे सारे अस्तित्व को एक गतिहीन अंधकार ने आ घेरा था। और इस घेरे में प्रतिध्वनित हो रही थी तो मात्र उसके दिल की धुक-धुक और घड़ी की टिक-टिक…।

कान्हजी सिंह तोमर : प्रगतिशील युवा कथाकार। सभी प्रमुख पत्रिकाओं में आपकी कहानियां प्रकाशित होती रहती हैं। कुछ कहानियां विशेष रूप से पिछले दिनों चर्चित भी हुईं। इनकी कहानियों का एक संग्रह भी पिछले वर्ष प्रकाशित हुआ है। सम्प्रति जमशेदपुर में।

ऊपर के लोग

नाटक का अन्तिम दृश्य अभी समाप्त ही हुआ था कि मिश्रा जी दौड़ते आये थे और दर्शकों के बीच खड़े हो गये थे। उनकी आंखें किसी परिचित को तलाशती सी लगी थी क्योंकि हॉल में खड़े और कुर्सियों पर बैठे दर्शकों के ऊपर से उनकी नजरें बराबर फिसलती रही थी और चेहरे पर खुशी व्याप्त लगी थी। मंच के तीखे उजाले में नाटक के कलाकार राष्ट्रीय गीत की औपचारिकता निभाने के लिए गोल दायरे में सजना शुरू हो गये थे।

इसी बीच मिश्रा जी की नजरें मुझ पर पड़ी थीं और वह खुश हो गये थे। मैं समझ गया था कि वह जरूर कुछ कहना चाहते हैं, इसलिए मैं उनके पास आकर खड़ा हो गया। मिश्रा जी ज्यादा खुश दिखे थे और उसी अद्भुत खुशी में उन्होंने पूछा था, 'मेरी पत्नी का डान्स देखा आपने? कैसा लगा?'

'बहुत सुन्दर भाई। रियली आपकी पत्नी इतना अच्छा नाचती है, यह तो मुझे मालूम ही नही था!'

मेरी बात सुनने से मिश्रा जी को एक अलौकिक आनन्द मिला था, क्योंकि अपनी दोनों हथेलियों में मेरा दायाँ हाथ दबा लिया था और मुझे खींचते हुए हॉल से बाहर ले आये थे।

'जानते हैं? मेरी पत्नी ने लगभग दो वर्षों से एकदम रिहर्सल नहीं किया है। लेकिन मेरी बात मान गयी। दरअसल, मेरे सामने

का सवाल खड़ा हो गया था। कल के प्रोग्राम में लोग संतुष्ट नहीं थे। बस—मैंने साफ एलान कर दिया कि तुम्हें नागिन बनना होगा। और सचमुच, उसने कमाल कर दिया यार। मार्वेलस।'

लोगों के हॉल से बाहर निकल जाने के बाद ए० के० ने सूचना दी कि मार्शल मुझे खोज रहा है क्योंकि बाहर से आये कलाकारों को ठिकाने पर भेजना होगा।

और फिर हम लोगों ने कलाकारों को पैक करना शुरू किया था। मार्शल और दादा की गाड़ी महिला और बाल कलाकारों को लेकर जा चुकी थी और हमारे साथ तीन पुरुष कलाकार बच रहे थे। मार्शल ने हम सब को एक ही गाड़ी में ठूंस दिया और अपने साथ घसीट ले चला।

बार में पहुँचने के साथ ही मेरी नजरें वहां पर जमे लोगों पर गयीं। एम० एम०, दादा, जायसवाल और वीर सिंह बहुत पहले से पी रहे थे और अब मस्ती में आने लगे थे। दादा बीच-बीच में नाचने लगता था और डॉयलाग भी बोलता जाता था।

मार्शल का अतिथि-सत्कार में कोई जवाब नहीं। हमसे बगैर बोले उसने ब्लैक नाइट की चार और बीयर की बारह बोतलें मंगा ली थीं और फिर हम चालू हो गये थे।

थोड़ी देर में हमें महसूस हुआ कि नशा हम पर तारी होने लगा है और हम बे-लगाम घोड़े की तरह बहकने लगे थे।

'मेरी पत्नी के मुकाबले शहर भर में कोई दूसरा कलाकार नहीं। नाचने और गाने, दोनों में बेजोड़ है। क्यों टाइगर—? मैं झूठ बोल रहा हूँ?'—मिश्रा जी मेरी ओर देखते हुए मुस्कुराये थे, फिर गिलास होंठों से सिटा दिया था। अंजना सचमुच अच्छा नाचती है—अच्छा गाती है, यह बात कला में दिलचस्पी रखने वाले शहर के सभी लोग जानते हैं। लेकिन दादा बहक चुका था।

'तोमार पत्नी घंटा। हमारे शहर में अनेक आछे। तुमी केनो बोलछो?...स्साला पत्नी वाला।'—दादा काफी पी चुका था और अब

अंट-संट बकने की स्थिति से गुजर रहा था। मार्शल ने थोड़ी देर तक दादा को समझाने की कोशिश की तो वह उठा और डगमगाते कदम बाथरूम की तरफ चला गया।

'क्यों टाइगर? तुम भी तो चेहरा देखकर ही सरोकार भिड़ाते हो। अच्छा...एक बात बताओ, तुम्हारी जान पहचान में औरतें सब एक ही काट की हैं? सब विकट नितम्बा।'—अचानक मार्शल ने मुझसे घुमावदार सवाल कर दिया। मैं किसी भी सवाल के लिए तैयार नहीं था, लेकिन मार्शल ने पूछा था इसलिए बोला, 'क्यों? तुम्हारे मन में ऐसा सवाल उठा कहाँ से?'

'नहीं, अक्सर तुम्हारे साथ अद्भुत मांसल औरतों को देखा करता हूँ।'

मार्शल मुस्कुराता रहा था और फिर गिलास उठाकर बोला, 'फॉर द क्लोज रिलेशन ऑफ आवर टाइगर विद सो मेनी फैटी वीमेन्स।... हा...हा...हा हा।' और फिर उसने गिलास होठों से लगा लिया था।

थोड़ी देर के लिए बार में आश्रम जैसी खामोशी छा गयी थी। जैसे, इस बार को किसी शहर में न होकर किसी जंगल में होना चाहिए। एम० एम० और वीर सिंह उठकर कहीं बाहर चले गये थे और दादा जंगली हाथी की तरह झूमते हुए आकर बैठ गया था।

'केनो मोशाय? आपनार पत्नी का इतिहास खोतम हुआ? बोलून—बोलून। आपनार पत्नी आर की की जाने?'

दादा फिर बहकने लगा था। उसने बेयरा को बुलाया था और रम की पूरी बोतल की माँग की थी। मिश्रा जी को बीयर ही भारी पड़ रही थी क्योंकि दो गिलास के बाद ही उनकी आँखें लटक गयी थी और मुँह खुले फाटक की तरह हो गया था।

'नहीं दादा, आप नहीं जानते। मैं कभी अपनी पत्नी का विज्ञापन नहीं करता। क्यों?...जब मेरी पत्नी के पास कला है और वह भी उच्च-कोटि की कला तो विज्ञापन की क्या जरूरत है।'

'ठीक बोलेछेन मोशाय। हमको भी मालूम। खूब सुन्दर, लौंडिया को एक वार हम भी नचाया था। आर—उसका बाप बोलते छिलो कि मालो कलाकार को सबई जाने। हा—हा-हा सबई जाने! ताक धिनाधिन—ताक धिनाधिन ताक धिनाधिन ताक।'

दादा उठकर चुटकी बजाते हुए नाचने लगा था। मार्शल थोड़ी देर तक चुप रहा था और फिर उसने जोरों से बोल-बोल कर ताल देना शुरू किया। दादा नाचता रहा था और फिर धम्म से कुर्सी पर बैठकर सिर को मेज से टिका दिया।

ए० के० अभी तक पीता ही जा रहा था। हमारी मित्र-मंडली में ए० के० को पीने मे कोई नही दबा सकता। लेकिन अब वह भी मस्ती में आ गया था क्योंकि एक-ब-एक उसने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर 'मार्शल जिन्दाबाद' का नारा लगाया था।

तब तक मैं आधा समाप्त हो चुका था। सामने के चेहरे एकदम धुंधलाये से लगने लगे थे जैसे कोहरे में घिरे हुए हों और मैं गिलास की ओर झुका था। तब मुझे गिलास के भीतर बहुत सारे चेहरे तैरते नजर आये थे और मैं एक-एक को पहचानने की कोशिश करने लगा था। मार्शल, दादा, मिश्रा जी,…यह ए० के०, अंजना, मेरा बॉस, यह शीला जी, और यह?…हाँ…यह महेश जी हैं। और मैं मुस्कुराते हुए महेश जी के प्रति पूर्णतया समर्पित हो गया था।

मैंने अपने को कुछ अरसा पीछे ढकेल दिया था। तब मैं कवि की पीड़ा में डूब-उतरा रहा था और स्वयं को निराला से कम नही मानता था। लेकिन मेरा वह असली चेहरा नही था, ऊपर से एक खोल डाल लिया था। तब मैं उस शहर के लिए नया था और आने के साथ ही आध्यात्मिक बीमारी से ग्रस्त कुछ लोगों की चंगुल में फँस गया था। और जब चंगुल से भागा तो शहर के दूसरे हिस्से में प्रवेश कर गया। उस हिस्से के अंतर में आग लगी हुई थी और सभी लोग जल रहे थे। फिर मैं भी जलने लगा। उसके बाद मेरे बहुत सारे विरोधी पैदा हो गये थे

और मैं आध्यात्मिक बीमारी से छूट कर साहित्यिक बीमारी की गोद में आ गया था।

लेकिन महेश जी की पकड़ बड़ी मजबूत थी। उन्होंने शायद मेरी पीड़ा समझ ली थी और मेरे बहुत बड़े सहायक के रूप में खड़े हो गये थे।

'हर अच्छे काम में मैं शामिल होना चाहता हूँ। लेकिन इस शहर में अच्छा काम करने वाला कोई है ही नहीं।' मुझे बहुत बड़ा बल मिला। फिर जितने अच्छे काम हो सकते हैं, उनकी लिस्ट मैंने बना डाली। मेरे अन्तर में यह उपदेश कील की तरह गड़ गया था कि कर्त्तव्य करते रहो, फल भगवान देगा। लेकिन महेश जी ने इसमें सुधार किया कि आप अच्छे-अच्छे काम कीजिये, फल अपने-आप मिलता जायगा। और उसके बाद सचमुच मैं काम के पीछे भागने लगा था।

एक दिन मैं पार्क की बेंच पर आराम से लेटा था। नीचे हरी-हरी घास थी और ऊपर खुला आसमान था। मैं कुछ सोच रहा था और मेरे भीतर एक नयी अनुभूति फैल रही थी। कविताओं और कहानियों के बारे में सोच-विचार करने और शहर में चारों ओर फैली प्रेमिकाओं के बाल सहलाते हुए सोचने में काफी अन्तर है। लेकिन मेरा सोचना इन दोनों से भिन्न था। शायद मैंने अपने भावी जीवन के बारे में सोचना शुरू किया था।

तभी महेश जी आकर मेरे पायताने बैठ गये थे और 'हल्लो' कहा था। उनके साथ कोई और सज्जन थे जिनका नाम उन्होंने चन्द्रकांत जी बताया था।

चन्द्रकान्त जी ने कितनी बार मुझे अपनी प्रेमिकाओं के साथ शहर में घूमते हुए देखा था। और उनकी कुटिल मुस्कान को देखते ही मैं ताड़ गया था कि उनके हृदय में मेरे प्रति कोई अच्छी भावना नहीं।

'आपको मैं पहचानता हूँ। एक दिन घोषाल होटल में आपको दो लड़कियों के साथ देखा था जिनमें एक बहुत ही चुस्त कपड़े में थी।'

परिचय का यह अनोखा ही ढंग था। मैं समझ गया था कि वह महेश जी के भीतर मेरे तईं जमे विश्वास के पहाड़ में खाई खोदना चाहते हैं। दरअसल, महेश जी की नजर में मैं कोई भी जेनुइन आदमी काम का हो सकता है और पूरे शहर में मैं ही एक जेनुइन आदमी दिखा था जिसे महेश जी हृदय से मानने लगे थे।

चन्द्रकान्त जी की बात सुनने के बाद मैं बोला था—'इसमें क्या फर्क पड़ता है कि लड़कियों के इस शहर में आपने मुझे दो लड़कियों के साथ देख लिया था जहाँ सामाजिक उत्थान के लिए कितने सेन्टर खुले हुए हैं। एक लड़की भी तो दो लड़कों के साथ देखी जा सकती है।'

चन्द्रकान्त जी का मुँह लटक गया था। बोलने के बाद मुझे महसूस हुआ कि मुझे ऐसा नहीं बोलना चाहिए था। दरअसल अब मेरी उमर सूखे बाँस की तरह और बीमार लड़कियों के साथ रहने लायक नहीं रही बल्कि मांसल और अधेड़ औरतों के लिए ठीक है।

'हम लोग बहुत जल्दी प्रोग्राम देने जा रहे हैं। आपकी जान-पहचान वाले बहुत ज्यादा लोग हैं इस शहर में। उन लोगों से कन्टैक्ट करना आपके जिम्मे।'

महेश जी प्रत्येक प्रोग्राम में मुझे यही काम दिया करते थे। उनकी दृष्टि में स्थानीय राजनीति मेरे लिए ठीक है क्योंकि इस काम में मैं शुरू से ही कुख्यात रहा हूँ।

फिर मैं बोला था, 'यह क्या कहते हैं आप। मैं तो हमेशा आपके साथ हूँ। और किसी भी अच्छे काम में मैं आगे ही रहता हूँ।'

'ऐसा करते हैं, मैं लिफलेट दे रहा हूँ बाजार में। उसमें आप लोगों के नाम दे दूँगा। आप तो जानते ही हैं कि मैं अपना नाम नहीं दे सकता।' महेश जी की बात सुनने के बाद मैं बहुत खुश हो गया था कि वह मुझे सचमुच जेनुइन आदमी समझते हैं।

और प्रोग्राम के बाद शहर में एक नपुंसक उत्तेजना थी। लोगों के चेहरे और विरोधियों की बातें आपस में टकरा रही थीं। कभी-कभी वे-

जान चेहरे सामने होते थे, फिर जातक कथाएँ थी। चन्द्रकान्त जी के दिल पर अनगिनत चोटें थी और मेरे बारे मे बेशुमार शिकायतें थी। शेर मेरे जंगल मे थे और सूअर कीचड़ में लथपथ होकर ताल ठोक रहे थे। लेकिन इन सभी करतूतो से शहरी आबोहवा को मुट्ठियो मे बन्द नहीं किया जा सकता था।

कुछ दिनों तक मैं स्ट्रेट माइन्ज रोड मे घूमता रहा था। अपने शहर में वह सबसे लम्बी सड़क थी। और उस सडक पर घूमने वाले अपने को स्ट्रेट समझा करते थे। सड़क के किनारे बेशुमार पेड थे, घर के आगे भाड़ियाँ थी। लॉन में आयातित फूल थे और दरवाजे पर 'कुत्ते से सावधान' की पट्टियाँ थी। लड़कीनुमा लड़के फारवर्ड समझे जाते थे और गोश्त का चकत्ता हिलाकर चलने वाली देवियाँ क्लासिकल मानी जाती थी।

अचानक दादा की गर्जना से मैं अपने मे लौट आया था। दादा हाथी की तरह चिंघाड़ रहा था। उसने अपनी धोती खोल डाली थी और पंजाबी कुर्ते को बीच से चीर डाला था।

'स्साले···ए···ए···ए। पत्नी ई···ई···ई के ना आ-आ म दिये कथा बोलछे। बेशर्म। हुँह! स्टेजे ए ए ऊपरे तोर पत्नी डान्स करे आर तुमी ई ई बोलता है कि तोमार जन्य विज्ञापन का दरकार नेई ई ई ई?··· काहे को बोलता कि तोमार पत्नी इतना अच्छा नाचती है, ए ए?—की असभ्य···।' दादा फिर लुढ़क गया था और मेरी आँखें झेपने लगी थी।

शहर मे सूरज कब का डूब चुका था और बार में बत्तियाँ उग आयी थीं। मेरे सामने के गिलास का पेय फिर भर गया था। उस समय मैं अपने सामने बैठे लोगों का मुआयना करने में लग चुका था। ये सभी ऊपर के लोग हैं, हाई लेवल क्लास के। मुझे यह पता नही चला कि ये मेरे साथ बैठे हैं या मैं इनके साथ बैठा हूँ। यह भी नहीं समझ सका कि हम सभी एक साथ बैठे हैं या अलग-अलग बैठे हैं। सिर्फ धुएँ मे घुने, लगता कि हम सब बैठे हैं।

करते हो और बहुत ऊँचे-ऊँचे ख्वाब देखते हो।'

ए० के० मेरे साहित्यकार की मिट्टी पलीद करने पर तुल गया था। उसकी बात सुनने के बाद मुँह बेवकूफ की तरह हो गया था क्योंकि मेरे सम्पूर्ण साहित्यिक वर्ग को ए० के० ने गाली दी थी और मैं ताव में आ गया था।

'क्यों? तुम मुझे गाली क्यों दे रहे हो? जानते हो?...साहित्यकार अपने समय का सर्जक होता है।'

ए० के० के पहले मार्शल उखड़ गया था। साथ में बैठे तमाम ऊपर वाले लोगों के सामने साहित्य एक अदना चीज थी। इसीलिए मार्शल गरजने लगा, 'बंद करो ऐसी वाहियात बातें। साहित्यकार मेरा ठेंगा। तुम लोग रंग के पीछे भागते चलते हो और अपने को बहुत बड़ा आदमी मानते हो? तुम लोग मांसाहारी जंतु हो। समझे?'

बोतलों में शराब थी, सोडा था और मेरे पेट में आग थी। मार्शल ने फूँक मार दी थी और मैं धधकने लगा था। लेकिन मार्शल मेरा इतना आत्मीय था कि मैं चाहकर भी कुछ बोल नहीं पाया था।

दादा फिर मिश्रा जी में उलझ गया था। बार-बार मिश्रा जी को एक ही बात के लिए कोच रहा था कि उन्होंने प्रचार-प्रसार का सवाल क्यों उठाया?

'तुम क्या बूझते हो? तुम कलाकारों को एकई बीमारी है। ठीक बोल छी। तुम लोग साला भरपूर अपना प्रचार करता है और बार-बार एई बोलता कि तुम प्रचार को देखना नहीं माँगता...अद्‌भुत लोक है।'

रात विधवा की तरह लगने लगी थी और हम घर जाने की तैयारी में लगे थे। मार्शल खड़ा हो गया था। दादा कुर्सी पर फिर पसर गया था जिसे ए० के० झकझोर कर उठा रहा था।

चलने के समय मार्शल बोला था, 'तुम क्या समझते हो? मैंने कहा न कि कलाकार और साहित्यकार मेरे ठेंगा बराबर हैं। हम हैं तो ये सब हैं, नहीं तो नहीं।...अरे—इन लोगों को हम लोग पैसे पर नचायेंगे।

सब साला किसी न किसी पैसे वाला से जुड़ा है। हम चाहें तो इनका खून भी खरीद सकते हैं।'

मुझे अच्छा लगा था। मार्शल ठीक कहता है। मुझे भी जब आयोजन करना होता है, मार्शल के आगे हाथ फैला देता हूँ। मिश्रा जी पर गालों का असर एकदम नहीं हो रहा था, क्योंकि वह बराबर हँसते जा रहे थे और कभी-कभी अपनी पत्नी की बात चला दिया करते थे।

सड़क पर अँधेरा था और लॉन में रातरानी की महक थी। पोर्टिको में गाड़ियां थी और अब हम घर जाने वाले थे। दादा ने ड्राइवर को गाड़ी से नीचे गिरा दिया था और गाड़ी लेकर आगे बढ़ गया था, बहुत तेजी में बढ गया था। थोड़ी देर में वे सब अपनी बड़ी-बड़ी इमारतों में चले गये थे और मैं पुलिस लाइन स्थित अपने दरबे में घुस कर बेहोश हो गया था।

मैं अपने दरबे मे बेहोश था क्योंकि ऊपर के लोग मेरे दोस्त थे और घर के नाम पर मेरे पास एक दरबा था। शहर मे जितने घर थे वे सब ऊपर वालों के यहाँ गिरवी रखे थे। और मैं अपने दरबे में बेहोश था।

फिर बाहर हार्न की आवाज थी—बहुत जोरों की आवाज थी। मैं अधेड़ नशे में बाहर निकला था और मार्शल की गाड़ी देखकर अचकचा गया था। मार्शल बोला था, 'टाइगर—जल्दी चलो। दादा ने लैम्प पोस्ट से अपनी गाड़ी लड़ा दी है और बहुत जख्मी हो गया है। उसे खून देने की जरूरत है।'

मेरा नशा फट गया था और मैं मार्शल की गाड़ी में बैठा था। फिर मेरा सोचना था। मेरा सोचना यही था कि ये ऊपर वाले लोग अपनी बिरादरी के लोगों को खून भी नहीं दे सकते। क्या सचमुच अपने देश की सम्पूर्ण कला और हमारा खून ऊपर वालों के यहाँ कैद है?···वाक़ई?···

राजेन्द्र कुमार शर्मा : कथाकार एवं कवि। अब तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पचास से ऊपर अच्छी कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। एक कहानी-संग्रह भी दो-तीन वर्ष पहले छपा है। एक उपन्यास 'चौराहे पर' अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। सम्प्रति औद्योगिक प्रशिक्षण संस्था, इन्दौर में।

छुटकारा

पापा इतने खुश तो कभी नहीं दिखे। उनका चेहरा खुशी-गत बिखरन को समेटने में असमर्थ और नाकाफ़ी-सा लगा। ममी से बातें करते वक्त वह युवा-अंदाज़ से मुस्करा रहे थे। ममी की चाल, बातचीत, व्यवहार में अतिरिक्त उत्साह था। छोटी बहिन रीना चिड़िया-सी फुदक-फुदककर बारम्बार नन्हें भाई-बहिनों को 'किश' कर रही थी और वे बात-बात पर तालियाँ बजाकर किलक रहे थे।

अनायास ही घर में आई इस बेशुमार खुशी का मैंने कई बार ओर-छोर पकड़ना चाहा। लेकिन वह आस-पास घुमर कर हर बार हाथ से ऐसे फिसल गई, जैसे मुट्ठी में कैद पानी की लकीर! बड़ी खीज हुई मुझे। क्यों मुझे इस प्रकार उपेक्षित समझकर, मेरा अपमान किया जा रहा है? घर की बड़ी लड़की होने के नाते क्या मुझे हक नहीं कि उस बेशुमार खुशी का एकाध टुकड़ा इधर भी नसीब हो?

हीनताबोध के कारण मुझे टेम्परेचर-सा होने लगा। अपना कायर-गुस्सा स्वयं को ही निराशा की मथनी से मथने लगा। मन ने कहा—ठीक है कर लो उपेक्षा, एक दिन मैं भी सभी की उपेक्षा करके चली जाऊँगी। लेकिन चली कहाँ जाऊँगी। लड़की कहाँ जाती है—ससुराल!

ससुराल शब्द की प्रतिक्रिया बहुत ही बुरी हुई मुझ पर। निगाहों के सामने अंधकार गहराने लगा। पाँवों में दर्द भर गया। दिल धकधकाने

लगा। नर्वसनेस से निजात पाने की ग़रज से मैं ममी के पास चली गई। मेरी आँखों के कौंधते प्रश्नों का उत्तर ममी ने जुबान से नहीं दिया। ममी ने मुझे आपूर्ण स्नेहसिक निगाहों से ऐसे नहलाया, जैसे उनकी अपनी बेटी सविता—सवि, अरसे बाद उनके सामने आई है। चाय लेकर पापा के पास गई तो उन्होंने भी कुछ बताने के बजाय, सिर पर इस तरह हाथ फिराया, जैसे मैं उनसे विदा हो रही हूँ। रीना ने मुझे आँखें भरकर देखा, जैसे हम जुदा हो रही हैं। नन्हें भाई-बहन मुझे देखकर खामोश हो गये, जैसे उनकी प्यारी दीदी को कोई खूँख्वार-हाथ दबोचे जा रहा हो।

घर की बेशुमार खुशी का सारा राज एकदम खुला तो मैं शरम से इस तरह लाल हो गई, जैसे सूरज की पहली किरणें झील के खामोश पानी पर ठहर गई हो। इसका अर्थ यह कि फिर कोई मुझे देखने- आ रहा है?

दो-तीन वर्षों से मेरे विवाह को लेकर, पापा, ममी, रीना- यहाँ तक नन्हें भाई-बहिन भी, परेशान हैं। कई बार, सजा-सँवारकर,- नुमाईशी-अंदाज में, गुणों की कमेण्ट्री के साथ, मुझे पेश किया जा चुका है। लेकिन, हर बार आगन्तुकों की पारखी-आँखों ने मेरे गये-गुजरे रूप-रंग को प्राप्त करने की उद्दाम-लालसा के बजाय, सहानुभूति से सराबोर होकर, लम्बी-साँस के साथ जुबान से यही कहलवाया है—आपकी छोटी लड़की, क्या नाम बताया था आपने रीना, हाँ रीना हमें पसन्द है, आप हमें 'सूट' नहीं कर पायेंगी।

छोटा-सा वाक्य, लेकिन लगता है, -इस वाक्य- में मेरे जीवन का आद्यान्त इतिहास छुपा है।

छोटी बहिन रीना, लगता है भगवान ने सारा रंग-रूप उसको ही दे दिया है। ऐसा नहीं भी हो, लेकिन मेरी तुलना में तो वह अप्सरा-सी लगती है न। रीना की वजह से हर बार 'रिजेक्ट' होने के कारण मुझे उस पर गुस्सा आना चाहिए, घृणा होनी चाहिए और अत्यधिक ईर्ष्या भी। लेकिन चाहकर भी ऐसा नहीं हो सका, बल्कि इसके बजाय, मुझे

उनसे बेशुमार सहानुभूति ही है। बेचारी रीना—अपने विवाह के लिए कितनी उत्सुक है, लेकिन मेरी वजह से उसका नम्बर ही नहीं आ रहा है। मैं उसके रास्ते का पत्थर जो हूँ। पापा भी तो मेरे रिजेक्शन और उसके प्रपोज़ल का तुरन्त ही दृढ़ता से उत्तर दे देते हैं। आपका कहना ठीक हो सकता है, लेकिन जब तक सविता का विवाह नहीं हो जाता है, तब तक हम रीना के बारे में कुछ नहीं कह सकते।

पापा के इस प्रकार के स्पष्ट उत्तर से मैंने रीना की आँखों में तो सब कुछ कौंधते देखा है जो उसके प्रपोज़ल पर, मेरी आँखों और जुबान पर मुखर हो जाना चाहिए। शायद तब ही कई बार मन हुआ है कि पापा—मम्मी से स्पष्ट कह दिया जाये—'प्लीज हमें अपने हाल पर छोड़ दें और रीना का विवाह कर दें।'

तो क्या फिर मुझे सज-सँवरकर, गुणों की कमेण्ट्री के साथ, नुमाईशी-अंदाज से प्रस्तुत होना पड़ेगा। उफ, यह एहसास मात्र मुझे पसीने-पसीने कर जाता है।

लेकिन अभी तक ममी ने आदेश क्यों नहीं दिये—सवि, जरा बेसन-तेल के उबटन से नहा ले। देख सवि, जूड़ा जरा नई डिजाइन का बना लेना। सवि, साड़ी वो—वो वाली पहनना। सवि—सवि—सवि···!

खरीदार की जानकारी हेतु, मेरी उत्सुकता मुझे ही परेशान करने लगी। अतः ममी से पूछा—'ममी, आज आप, पापा, रीना और··· बहुत खुश हैं।'

'हाँ—हैं तो, क्यों ?'

मैंने हँसकर कहा—'क्यों तो मुझे पूछना है ममी। क्या पापा किसी कॉलेज के प्रिंसिपल हो गये—मेरा मतलब प्रमोशन···?'

ममी गम्भीरता से बोलीं—'सवि, तेरा विवाह हो जाये, तो समझ, तेरे पापा का प्रमोशन ही हो गया।'

'ममी।' मैंने इतना ही कहा तो उन्होंने जानकारी दी—'कल सोमेश आ रहा है।'

'सोमेश—कौन सोमेश ?' मैंने चट से पूछा।

'भूल गईं ?' ममी ने आँखों में आँखें धँसाकर कहा—'बचपन में साथ-साथ खेली-कूदी हो तुम तो उसके साथ, फिर भी। अरे वही सोमेश, भोपाल में अपनी पड़ोसिन थी न, सीता-चाची—उसका लड़का सोमेश—सोमू।'

'हाँ याद आ गया।' मैंने कहा—'वही ना जो अक्सर पापा के पास पढ़ने आता था। पापा से कभी-कभार पैसे ले जाता था। पापा ने उसको आगे पढ़ने के लिए वर्षों तक सहायता की थी! और जो पापा के कारण ही आजकल शायद किसी यूनीवर्सिटी में पी-एच० डी० कर रहा है।'

'हाँ वही तो। लेकिन अब तो यहाँ के कॉलिज में प्रोफेसर बन कर आ रहा है। तुम्हारे पापा ने नहीं बताया ?' ममी ने हँसते हुए कहा—'सवि, देखा—इसे ही कहते हैं खानदानी-खून का प्रभाव। जैसे पिता-माँ थे, सोमेश वैसा का वैसा ही है। पत्र में हमारे एहसानों के बारे में इतना कुछ लिखा है कि क्या बताऊँ—शब्द-शब्द में शहद-सा टपकता है। अब लगने लगा है सवि—संसार में एहसानमंद जरूर है अभी भी, वरना धरती रसातल को चली जाती। यहाँ तक लिखा है—सर, नौकरी ज्वाइन करने से पहले, मैं आपके चरण स्पर्श करूँगा, ममी के पाँव पूजूँगा, क्योंकि यह दिन आपकी ही बदौलत देख पाऊँगा। वाह, क्या नम्रता है—क्यों न सवि ?'

ममी बहुत कुछ बोलती रहीं, लेकिन मैं वहाँ नहीं रुक सकी।

सोमेश—सोमू!

मन के शीशे पर चढ़ी गर्द पर हाथ क्या फिराया, स्मृतियों के 'शो-केस' में रखे सारे चित्र एकाएक दमकने लगे। सोमेश को कैसे भूल गई थी मैं। सोमेश बचपन में साथ-साथ खेला-कूदा, पढ़ा-लिखा और···! छिः मैं भी कैसी हूँ, सोमेश को याद रखने जैसा है भी क्या ? बचपनी-स्मृतियों की अहमियत ही क्या होती है। कई साथ-साथ खेलते-कूदते, पढ़ते-लिखते हैं, किस-किसको याद रखा [illegible] फिर

ही क्या है दिलो-दिमाग पर अतिरिक्त भार का लबादा ओढ़ने की ?

मैं तो सब कुछ भूल गई, लेकिन सोमेश इस परिवार को नही भूल सका। शायद पापा के एहसानों के कारण। यह भी तो सोमेश की नम्रता है, वर्ना इस एहसान-फरामोश जमाने में कौन किसको याद रखता है ? लोग तो अपने-आप तक को भूल जाते हैं। ममी ठीक ही तो कहती हैं— सोमेश वास्तव में अपने माँ-बाप पर गया है, जो एहसानों के बदले जान तक देने को तैयार रहते थे। भला खून का असर कहीं जाता है ?

सोमेश को इस परिवार के तमाम एहसान याद हैं तो—तो बचपन की एकाध बातें भी तो याद होंगी ही। कितने प्यार से कहता था—'रो क्यों रही हो सवि ?'

'सोमू, वो छोकरी मुझसे कहती है कि तेरा रंग काला है, तेरी नाक चिपटी है, चेहरा ऊबड़-खाबड़ है, बाल भी घने नही, तेरी शादी नहीं होगी। कोई लड़का तुझसे शादी नही करेगा—हाँ।'

'बस इतनी-सी बात। सवि, तेरी शादी होगी और जरूर होगी और मैं करूँगा तुझसे शादी, चल बताते हैं उस छोकरी को। देख सवि—मैं यूँ आगे चलूगा और तू ऐसे पीछे-पीछे। अरे घूँघट तो निकाल। लेकिन साड़ी तो है ही नही—हत्तेरे की, ले ये रूमाल, ये ही सिर पर डाल ले, नहीं तो लोग क्या कहेंगे ? हां यूँ—कितना अच्छा लग रहा है सवि, लग रहा है ना ?'

'लग तो रहा है सोमू, लेकिन तू मुझसे शादी करेगा न ?'

'करूँगा।'

'खा अपनी माँ की कसम !'

'अब माँ की कसम भी खाना पड़ेगा ?'

'हाँ और सच्ची कसम, नही तो··· देख सोमू—झूठी कसम से माँ मर जाती है, सोच-समझकर खाना कसम।'

'सच्ची कसम से तो माँ नही मरेगी न ?'

'ना।'

'तो माँ की कसम, मैं तुमसे शादी करूँगा सवि !'

'तो चल, बात पक्की हो गई। उस छोकरी को क्या बताना। अब हम अपना घर बनाते हैं। यहाँ रसोई, यहाँ बैठक और ये—ये हमारे सोने का कमरा। ठीक है न ?'

'बिल्कुल ठीक !' पापा ने जोर से कहा तो मेरी स्मृतियों की चित्रावली एकाएक गड़-मड़ हो गई।—'बस एकाध घंटे में आता ही होगा सोमेश। खाना भी यहीं खायेगा और फिर बातें भी···! मैं तो स्टेशन चला जाता, लेकिन उसने मना कर दिया।'

ममी ने बैठक का जायजा लेते हुए मुझसे कहा—'जरा कपड़े तो बदल ले सवि, क्या कहेगा—सोचेगा सोमेश कि···?'

'अरे सोमेश और सवि तो बचपन के साथी हैं, जरूरत क्या है बनाव-सिंगार की, हाँ नहीं तो।' पापा ने बात काट कर कहा—'लेकिन ये बात मेरे दिमाग में आई क्यों नहीं कि—कि सवि के लिए सोमेश से बेहतर लड़का रहेगा भी कौन—क्यों ? हम खाहमख्वाह परेशान होते रहे इतने दिनों तक, कभी के निश्चिंत हो जाते और सवि भी···।'

'आप भुलक्कड़ जो हैं।' ममी बात काटकर बोली।

'तो भई तुमको ही याद दिलाना था।'

'मैं भी तो भुलक्कड़ हूँ न।'

'ममी, आपने बुलाया ?' रीना ने आकर कहा।

'हाँ, देखो आज—अभी तुम्हारे भोपाल वाले सोमेश भाई साहब आ रहे हैं—भूल गई ?'

'भूलूँगी कैसे उस पागल को, पापा का कितना दिमाग चाटता था और दीदी को तो···'

'चुप्प। मुँह में जो आता है, बके ही जाती है। इतनी बड़ी हो गई, लेकिन अक्कल जरा-सी भी नहीं है भेजे में।' ममी ने कृत्रिम गुस्से में कहा—'वो यहाँ कॉलेज में प्रोफेसर बनकर आ रहा है अब—समझी ?'

'क्यों दीदी, वह बुद्धूराम प्रोफेसर भी बन सकता है ?'

मैं शरमाकर बोली—'आयें तो पूछ लेना।'

'शुअर!'

'खबरदार फालतू बातें की तो। जरा रसोई में देख खाने में क्या-क्या और बनाना है? बेटी सवि जा जरा चेहरा-मोहरा···!'

'हाँ—हाँ बेटी।' पापा ने भी कहा और वे व्यस्तता से सड़क की तरफ देखने लगे।

सोमेश समयानुसार ही आ गये थे। पूरा घर खुशी से भर गया। मेरे मन में एक अजीब-सी उत्सुकता बुलबुला रही थी कि देखें तो जनाब लगते कैसे हैं? उनमें कुछ परिवर्तन भी तो आये ही होंगे। अरे, इतने बदल गये आप। वाह क्या चेहरा है और क्या सलीके से सँवारे हुए बाल। अरे, आप इतने सलीके से बातें भी कर सकते हैं—खूब।

सोमेश को नजदीक से देखने को बेताब होने लगी मैं, लेकिन तभी सोचा भी कि वहाँ तक जाऊँ अथवा न जाऊँ? अभी जल्दी है भी क्या, तमाम उम्र तो अब इनके नजदीक रहना ही है, देखना है, आखिर जनाब बचकर जायेंगे कहाँ। इधर पापा के एहसान, उधर मम्मी का स्नेह, एक ओर रीना और नन्हे भाई-बहिनों का लगाव और दूसरी ओर मेरा प्यार ही प्यार। कहिये सोमेश जी, कैसा घेराव हुआ—। शेष है बच निकलने का कोई रास्ता? नहीं ना—

पापा ने मुझे आवाज दी तो मेरे चिंतन में खलल पड़ गई। मंमी, रीना और नन्हे भाई-बहिन तो वहाँ पहले से ही पहुँच चुके थे और शायद अब मेरी ही बारी थी। मैं शरम से घिरने लगी, लेकिन तत्क्षण ही हिम्मत ने कहा अपने बचपन के साथी सोमू से कैसी झिझक—

मैं बैठक में गई तो सोमेश के चेहरे पर, मेरे प्रति अनचीन्हेपन के भाव गहराये। वह बोले भी—'आप सवि—मेरा मतलब सविता जी हैं ना?'

पापा ने जोर से हँसकर कहा—'बिलकुल सविता भई सोमेश, वही सविता, जिसके साथ तुम बचपन में खेले-कूदे हो। भूल गये क्या?'

'जो भूलूंगा कैसे, मुझे तो एक-एक बात याद है।'

'एम० ए० कर लिया है।' ममी ने कहा—'ये पर्दे, वो गद्दे-गिलाफ सब इसी ने बनाये हैं। गाना भी सीखा है। सितार भी बजा लेती है। कुछ-कुछ चित्रकारी भी—ये, वो चित्र इसने ही बनाये हैं। और खाना तो ऐसा बनाती है—अरे अभी जो तुमने खाया सोमेश वो—वो !'

'ममी।' बात काटकर बोले सोमेश—'सविता जी के बारे में आप जो भी बता रही हैं वो बहुत कम है। आप तो जन्मजात कलाकार हैं, मैं तो बचपन मे इनकी उँगलियाँ देख कर ही…!'

मैंने शरमाकर सोमेश की तरफ देखा तो वह बोले—'सविता जी ने कोई नौकरी ज्वाइन की ?'

'क्या जरूरत है ?'

'आ हाँ, क्या जरूरत है ? बैठिये न सविता जी, बैठिये-बैठिये।'

मैं सहमकर बैठ गई गुस्साते हुए—सविताजी-सविताजी क्या, सवि नही कह सकते, बड़े आये प्रोफेसर बनकर

'बेटे सोमेश।' पापा ने कहा—'अब तो नौकरी भी अच्छी ही मिल गई, शादी के बारे मे क्या विचार है ?'

सोमेश ने सिर नीचा करके कहा—'जी वो तो करना ही है। मेरा संसार में आप लोगों के सिवा है ही कौन। आप जैसा भी करेंगे, वही तो होगा न।'

पापा के चेहरे पर असीम सुख उतर आया। ममी उत्साहवश आँखें भर लाईं। रीना का चेहरा खिल गया। नन्हे भाई-बहिन एक दूसरे को देखकर रहस्य से मुस्करा दिये।

पापा लंबी साँस खींचकर बोले—'मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी बेटे सोमेश।'

सोमेश ने श्रद्धावश क्रमशः पापा-ममी को देखा और प्यार से रीना की ओर देखकर, नन्हें-भाई-बहिनों के गाल थपथपा दिये। मेरी खुशी का तो ठीकाना ही नहीं था गोया संसार का बेशकीमती खज़ाना मिल

गया हो।

ममी ने स्नेह से कहा—'हमारी शुरू से ही एक इच्छा थी बेटे सोमेश, सीता बहिन ने शायद मरते वक्त तुमको बताया नहीं कि…!'

'जी नहीं ! लेकिन आपकी प्रत्येक इच्छा का पालन करना मेरा धर्म है, कर्त्तव्य है। आप आज्ञा तो कीजिए ?' सोमेश ने मुझे देखकर कहा तो लगा कि अब मैं बेहोश न हो जाऊँ—'क्या आदेश है मेरे लिए ?'

'सोमेश बेटे।' पापा गंभीरता से बोले—'तुम्हारी माता जी और हमारी इच्छा थी कि तुम और सवि, मेरा मतलब सविता से तुम्हारा विवाह हो।'

मैंने शरमाकर सोमेश की तरफ देखा—'हाँ' के सिवा उनके पास चारा ही नहीं था। मारे 'ना' के रास्ते बन्द। कतई बन्द। लेकिन तभी वह गंभीरता से बोले—'आप लोगों की और मृत माँ की इच्छा का पालन करना मेरे लिए बहुत ही गर्व की बात है, लेकिन…।'

'लेकिन क्या ?' पापा ने चट से पूछा।

'लेकिन सविताजी को मैंने बचपन से अब तक केवल बहिन के रूप में ही देखा है—गुरु पुत्री के नाते, आगे आपकी मर्जी।' कहा सोमेश ने और शून्य में ताकने लगे।

मैंने झटके से इधर-उधर देखा तो पाया—पापा-ममी के चेहरे उतरे हुए हैं। नन्हें भाई-बहिन निराश हैं, और रीना—। रीना की आँखों में विचित्र से भाव थे जिनका प्रत्योत्तर सोमेश रहस्यमय-मुस्कान के माध्यम से दे रहे थे।

गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव : जन्म अगस्त १९३६। १९६५ से लिख रहे हैं। अब तक लगभग सभी प्रमुख पत्रिकाओं में आपकी रचनायें प्रकाशित हुई हैं और चर्चित हुई हैं। एक कहानी-संग्रह शीघ्र ही प्रकाश्य है। कहानी के अतिरिक्त आपने आलोचना सम्बन्धी कार्य भी किया है। सम्प्रति सुलतानपुर के एक डिग्री कालेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक।

मेजबान

मेन-हाल के सामने की गैलरी से गुजरते हुए मैंने देखा कि कोई पार्टी चल रही थी। हाल की दीवारों पर हल्की नीली रोशनी फैली हुई थी। मैंने देखा कई टाई-सूट वाले संभ्रान्त लोग वहाँ बैठे थे। कुछ महिलाएँ भी दिखाई पड़ी जिनकी गमलेनुमा खुली हुई चपड़ पीठें उस हल्की-नीली रोशनी में पालिश की तरह चमक रही थीं। मैं शीतल के साथ मेन-हाल से सटे बाईं गैलरी में जंगले के पास ही बैठ गया।

'इस बार का मेरा आना बहुत सार्थक रहा' शीतल ने ही शुरू किया।

'वह कैसे ?' मैंने पूछा।

'इस बार आपसे मेरी मुलाकात जरा जमकर हुई।'

'दफ्तर की मुलाकात भी कोई मुलाकात है!'

वेटर ने दो गिलास पानी हमारी टेबुल पर रख दिया और आर्डर के लिये पास ही खड़ा रहा।

'एक-एक दोसा और हाट काफी,' मैंने तुरन्त वेटर से कह दिया ताकि हम-दोनों की बातचीत का सिलसिला टूटने न पाये।

'साहब, दोसा खत्म हो गया है', वेटर की सूचना से मैं पसोपेश में पड़ गया। सिर्फ काफी के लिये आर्डर देना मुझे लज्जास्पद सा लगा। कोई विकल्प ढूंढ निकालने के लिये मैं क्षण भर सोचने लगा।

'आमलेट मिलेगा ?' मेरी चुप्पी के कारण शीतल खुद पूछ पड़ा।

'जी हाँ साहब', वेटर ने कहा।

'ठीक है, एक-एक अण्डे का आमलेट ही लाओ।'

वेटर आर्डर लेकर मुड़ने लगा तो शीतल ने फिर पूछा 'और सुनो। और क्या-क्या मिलेगा ?'

'पोटेटो चाप्स, पकौड़ियाँ, बन्....'

'ठीक है, एक-एक बन् और एक-एक प्लेट पकौड़ियाँ भी लाना....'

मैं सोच में पड़ गया! अब क्या होगा ? मेरी जेब में सिर्फ दो रुपये थे। लेकिन बिल तीन-चार रुपये से कम का नहीं होगा। यह भी अच्छा नहीं है कि मैं वेटर को बुलाकर आमलेट और बन् के लिये मना कर दूँ और कह दूँ सिर्फ दो जगह पकौड़ियाँ ही लावे। शीतल क्या सोचेगा ? मैं जब लखनऊ जाता हूँ तो वह मेरी कितनी खातिर करता है। मुझे एक पैसा भी खर्च नहीं करने देता। मैंने इधर-उधर आर्डर्स सर्व करते हुए वेटरों पर निगाह दौड़ाई। शायद कोई जान पहचान का मिल जाय तो काम बन सकता है। लेकिन सभी अपरिचित थे। अपमानित होने की भावी आशंका से मैं अन्दर ही अन्दर सिहर उठा। मुझे लगा जैसे अभी थोड़ी ही देर में मैं सरेआम निर्वस्त्र कर दिया जाऊँगा। फिर मैंने गैलरी में अगल-बगल की मेजों पर बैठे लोगों पर एक सरसरी दृष्टि डाली। शायद उनमें से ही कोई परिचित निकल आए जो मुझे इस विकट संकट से उबार ले। लेकिन...ऐसा कोई नहीं मिला। मुझे लगा आज मैं जरूर निर्वस्त्र कर दिया जाऊँगा। तभी मेरी निगाह एकाएक अपनी कलाई घड़ी पर पड़ गई। तुरन्त मुझे एक उपाय सूझ गया जैसे घुप्प अंधेरे में भटके हुए मुसाफिर के सामने कोई जुगनू चमक उठा हो। मैंने मन ही मन सोच लिया कि जैसे ही वेटर बिल लेकर आयेगा, मैं बिल को तुरन्त उससे लेकर सीधे मैनेजर के पास चला जाऊँगा और उससे कहूँगा कि बिल के भुगतान के लिये वह मेरी घड़ी कुछ समय के लिये गिरवी रख लेवे।

...मैंने फिर एक ठंडी सांस ली।

'क्या सोच रहे हो बास ?' मेरी चुप्पी को तोड़ते हुए शीतल ने टोका।

'कुछ नही तो। ऐसे ही······कोई खास बात नही', मैं सचेत हो गया।

'बात करने के लिये जगह काफी अच्छी है। बड़ी खामोशी है। काफी हाउस की तरह मछली बाजार नही है।' जंगले के बाहर सन्नाटा था। रिक्शा-स्टैंड पर इक्के-दुक्के रिक्शे नजर आ रहे थे। मैंने सोचा शायद ट्रेन का समय निकल चुका है।

'दफ्तर से छूटने पर हम लोग अक्सर यही चले आते है।'

'इधर आप काफी अच्छा लिखने लगे हैं।'

'ऐसा कोई दावा तो मैंने कभी नहीं किया।'

'जो मैंने महसूस किया वही मैं कह रहा हूँ।'

'सच पूछिये तो मैं सराहना पाने के लिये नही लिखता। लिखना महज मेरी एक आन्तरिक विवशता है।'

'देखिए, आपकी प्रेरणा से शायद मैं भी वापस जाने पर कुछ लिखूं।' शीतल कुछ सीरियस सा लगा।

'भाई, मैं तो अपने सभी दोस्तो से बराबर कहता रहता हूँ कि कुछ लिखो। यदि जिन्दा रहना है, तो लिखना भी जरूरी है। घुटन की यातना से दम तोड़ते हुए आदमी के लिये लिखना डूबने वाले के लिये तिनके के समान है। अपनी लेखनी से अपने जीवन की सारी विडम्बनाओ को बाहर उडेल कर वह राहत की सांस लेता है। मैं क्या बताऊं मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि आज की दमघोंट जैसी स्थिति में सभी को लेखक बन जाना चाहिये।'

'परफैक्टली राइट नलिनजी।' मुझे लगा जैसे अभी वह मारे खुशी मे अपनी सीट से उछल पड़ेगा।

'फिर आप कब आ रहे हैं?' मैंने प्रसंग बदलना चाहा।

'बहुत मुमकिन है कि मुझे एक निजी काम से हफ्ते के भीतर ही फिर आना पड़े।'

'यह तो बहुत अच्छी खबर है।'

'नलिनजी, मैं क्या बताऊँ मेरा बस चले तो हर महीने में कम से कम एक बार जरुर आया करूं।'

हम लोग आमलेट, बन, पकौड़ी समाप्त कर चुके तो वेटर हमारी टेबुल पर काफी भी रख गया। वेटर की इस तत्परता पर मैं मन ही मन खीझ उठा। जरा रुक कर काफी लाता···। मेरी चिन्ता फिर लौट आई। एक-एक घूट रुक-रुककर सिप करने लगा, ताकि इसी बहाने समय कुछ देर तक रुका रहे। आने वाला संकट जितनी देर के लिये टल जाय अच्छा है। यहाँ लोग बराबर आते-जाते रहते है। शायद इसी बीच कोई परिचित आ जाय।। दो-चार मैं पेशाब करने के लिये उठा भी कि इसी बहाने मैं दायी ओर की गैलरी में भी बैठे लोगों में से किसी परिचित को ढूंढ निकालूं···। मैं अपने ही में इतना खो गया था कि मुझे एक बात का भी ख़याल नही रहा कि शीतल क्या-क्या कहता जा रहा है। मुझे बस इतना ही महसूस होता रहा कि शीतल के अस्फुट शब्द मेरे कानों पर रेंग रहे हैं और मैं मशीनी अन्दाज में उसकी बातो मे हामी भरता जा रहा था······।

हम दोनों काफी पी चुके तो वेटर फिर आ पहुँचा। बिल को वह मेज पर एक प्लेट में रख गया। मैंने खिड़की की ओर नजर घुमा ली और बाहर के सन्नाटे का अर्थ ढूढने लगा। शीतल ने बिल उठा ली और जेब से पैसे निकालने लगा। मैंने खिड़की की ओर से दृष्टि हटा ली और गंभीर मुद्रा बनाये हुए कहा—

'पैसे मैं दे रहा हूँ···।'

फिर मैंने वेटर से पूछा 'कितने पैसे हुए' और मैं अपना हाथ पैन्ट की जेब में डालने लगा लेकिन मेरा हाथ जेब के ऊपर ही रुक गया। वेटर के जवाब देने के पहले ही हाथ के इशारे से शीतल ने मना करते हुए कहा 'मैं दे रहा हूँ।' और उसने दस रुपये का एक नोट प्लेट मे रख दिया और थोड़ा सा सौंफ प्लेट मे उठाकर उसने मुँह मे डाल लिया। मैं कुछ शर्मिन्दा सा महसूस करने लगा। लेकिन अपनी इस मन:स्थिति को मैंने

'कुछ नही तो। ऐसे ही……कोई खास बात नही', मैं सचेत हो गया।

'बात करने के लिये जगह काफी अच्छी है। बड़ी खामोशी है। काफी हाउस की तरह मछली बाजार नही है।' जंगले के बाहर सन्नाटा था। रिक्शा-स्टैंड पर इक्के-दुक्के रिक्शे नजर आ रहे थे। मैंने सोचा शायद ट्रेन का समय निकल चुका है।

'दफ्तर से छूटने पर हम लोग अक्सर यही चले आते हैं।'

'इधर आप काफी अच्छा लिखने लगे हैं।'

'ऐसा कोई दावा तो मैंने कभी नही किया।'

'जो मैंने महसूस किया वही मैं कह रहा हूँ।'

'सच पूछिये तो मैं सराहना पाने के लिये नही लिखता। लिखना महज मेरी एक आन्तरिक विवशता है।'

'देखिए, आपकी प्रेरणा से शायद मैं भी वापस जाने पर कुछ लिखूं।' शीतल कुछ सीरियस सा लगा।

'भाई, मैं तो अपने सभी दोस्तों से बराबर कहता रहता हूँ कि कुछ लिखो। यदि जिन्दा रहना है, तो लिखना भी जरूरी है। घुटन की यातना से दम तोड़ते हुए आदमी के लिये लिखना डूबने वाले के लिये तिनके के समान है। अपनी लेखनी से अपने जीवन की सारी विडम्बनाओं को बाहर उडेल कर वह राहत की साँस लेता है। मैं क्या बताऊं मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि आज की दमघोट जैसी स्थिति में सभी को लेखक बन जाना चाहिये।'

'परफेक्टली राइट नलिनजी।' मुझे लगा जैसे अभी वह मारे खुशी मे अपनी सीट से उछल पडेगा।

'फिर आप कब आ रहे हैं?' मैंने प्रसंग बदलना चाहा।

'बहुत मुमकिन है कि मुझे एक निजी काम से हफ्ते के भीतर ही फिर आना पड़े।'

'यह तो बहुत अच्छी खबर है।'

'नलिनजी, मैं क्या बताऊँ मेरा वस चले तो हर महीने मे कम से कम एक बार जरूर आया करूं।'

हम लोग आमलेट, बन, पकौड़ी समाप्त कर चुके तो वेटर हमारी टेबुल पर काफी भी रख गया। वेटर की इस तत्परता पर मैं मन ही मन खीझ उठा। जरा रुक कर काफी लाता···। मेरी चिन्ता फिर लौट आई। एक-एक घूंट रुक-रुककर सिप करने लगा, ताकि इसी बहाने समय कुछ देर तक रुका रहे। आने वाला संकट जितनी देर के लिये टल जाय अच्छा है। यहाँ लोग बराबर आते-जाते रहते हैं। शायद इसी बीच कोई परिचित आ जाय।। दो-बार मैं पेशाव करने के लिये उठा भी कि इसी बहाने मैं दायीं ओर की गैलरी में भी बैठे लोगो में से किसी परिचित को ढूंढ निकालूं···। मैं अपने ही में इतना खो गया था कि मुझे एक बात का भी खयाल नहीं रहा कि शीतल क्या-क्या कहता जा रहा है। मुझे बस इतना ही महसूस होता रहा कि शीतल के अस्फुट शब्द मेरे कानों पर रेंग रहे हैं और मैं मशीनी अन्दाज मे उसकी बातों में हामी भरता जा रहा था······।

हम दोनो काफी पी चुके तो वेटर फिर आ पहुँचा। बिल को वह मेज पर एक प्लेट मे रख गया। मैंने खिड़की की ओर नजर घुमा ली और बाहर के सन्नाटे का अर्थ ढूढने लगा। शीतल ने बिल उठा ली और जेब मे पैसे निकालने लगा। मैंने खिड़की की ओर से दृष्टि हटा ली और गंभीर मुद्रा बनाये हुए कहा—

'पैसे मैं दे रहा हूँ···।'

फिर मैंने वेटर से पूछा 'कितने पैसे हुए' और मैं अपना हाथ पैन्ट की जेब मे डालने लगा लेकिन मेरा हाथ जेब के ऊपर ही रुक गया। वेटर के जवाब देने के पहले ही हाथ के इशारे से शीतल ने मना करते हुए कहा 'मैं दे रहा हूँ।' और उसने दस रुपये का एक नोट प्लेट मे रख दिया और थोड़ा सा सौंफ प्लेट से उठाकर उसने मुँह में डाल लिया। मैं कुछ शर्मिन्दा सा महसूस करने लगा। लेकिन अपनी इस मनःस्थिति को मैंने

जाहिर नही होने दिया। उसकी बात का मैने कोई प्रतिवाद नहीं किया। मैंने चुप्पी साध ली।

वेटर चला गया तो शीतल मुसकराया, 'बास, इसमे फर्क ही क्या पड़ता है। मैं दूँ या आप दें बात एक ही है।' अपने मौन से मैंने अपनी स्वीकृति की सूचना दी। लेकिन मुझे यह खटका हुआ कि शीतल ने शायद मेरी परेशानी को पहले ही भाँप लिया था।

'क्यों नहीं आप कल रुक जाते ? और कल रात आप मेरे यहाँ खाते" मैंने कुछ हलकापन सा महसूस किया।

'रहने दीजिये, फिर कभी···इसके अलावा कल मंगलवार भी है, मेरे व्रत का दिन है।'

'तो फिर एक दिन और रुक जाइए न।' मैंने इस बार विशेष आग्रह से कहा। हालांकि शीतल मुझसे कल ही बता चुका था कि कल अप से उसका जाना निश्चित हो चुका है।

'इसमें फर्क क्या पड़ता है। ऐसी कोई बात नही है, नलिनजी। अगली बार आऊँगा तो मेरा खाना आपके यहाँ जरूर रहेगा।'

'लेकिन कल रुक जाने मे हर्ज ही क्या है ?'

'इस बार माफ कीजिये। कल शाम तक मेरा घर पहुँचना जरूरी है।'

वेटर बाकी पैसे लेकर आ गया।

काफी कार्नर से बाहर निकलकर मैं झट दो कदम आगे बढ़ गया और बगल के पानवाले की ओर दो रुपये का नोट बढ़ाते हुए कहा, 'दो जगह बढ़िया बनारसी पान लगाना···दो फिल्टर विल्स भी ?' पान वाले ने दो फिल्टर विल्स मेरी ओर बढ़ा दिये और पान लगाने लगा। मैंने एक सिगरेट शीतल की ओर बढ़ाते हुए कहा—'चलिये मैं आपको रेस्ट हाउस तक तो छोड़ ही दूँ।'

धुएँ का एक छल्ला मैंने ऊपर की ओर फेंक दिया जो धीरे-धीरे फैलने लगा···।

विकेश निझावन : जन्म ७ अक्टूबर १९५० । शिक्षा बी० ए० ।
व्यवसाय से आप केमिस्ट हैं । कविता तथा कहानी दोनों लिखते है । अब तक लगभग एक सौ रचनायें विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं । चित्रकला में भी आपकी विशेष रुचि है ।

जाने और लौट आने के बीच

स्टेशन से दीदी का घर करीब एक मील है । इतनी गर्मी में वहाँ पैदल जाना असहनीय सा लग रहा है । सामने खडे रिक्शा वाले को आवाज़ देना चाहता हूँ लेकिन जेब मे पडा दस का नोट जैसे व्यंग सा कर उठा है । क्षण भर के लिये नज़र चारो ओर दौडायी और बैग उठा कर आगे बढ गया हूँ ।

करीब आधा घण्टा लगा है मुझे दीदी के यहाँ पहुँचने मे । दीदी दरवाजे के पास ही खड़ी है । मुझे देखते ही कुछ कदम आगे बढ आयी और मुझे गले से लगा लिया है । मैं स्वयं को पिघलता सा महसूस करने लगा हूँ ।

'आओ···!' दीदी ने आगे बढ़ते हुए कहा है । मैं खामोशी से दीदी के पीछे-पीछे सीढ़ियाँ चढ़ने लगा हूँ ।

'कैसे आना हुआ ? कोई पत्र वगैरा भी नही लिखा ?'

'कल इन्टरव्यू है ।'

'कहाँ ?'

'यहीं, स्टेट बैंक में ।'

मुझे ड्राईंगरूम मे बिठा कर दीदी बाहर चली गयी है । लौटी तो हाथ में पानी का गिलास था ।

'पापा कैसे हैं ?' पानी का गिलास मेरी ओर बढाते हुए दीदी ने पूछा है ।

'ठीक है।' अनायास ही जैसे मुँह से निकल आया है। मैंने तो पहले से भी तय था कि मैं उनकी बिमारी के बारे में दीदी से कुछ नहीं कहूँ। लेकिन मैंने निश्चय कर लिया था कि दीदी से सब कुछ स्पष्ट कह दूँगा। मुझ से यह बोझ अकेले सहन नहीं होता। दीदी के सिवा और कौन है जिसे मैं अपना दुःख कह सकूँ। लेकिन दीदी के पूछने पर सहसा जैसे सब ही खत्म गये हैं।

'डाक्टर अक्सर आते रहते हैं?' दीदी जैसे मेरे चेहरे में कुछ और भी पढ़ गयी है, और शायद इसीलिये यह प्रश्न किया है।

'हाँ।' छोटा सा उत्तर देकर मैं फिर खामोश हो गया हूँ। दीदी एकटक मेरी ओर देखने लगी है। मुझे ऐसा लग रहा है जैसे दीदी की नजर मेरी कमीज के फटे हुए कालर पर टिक गयी है। उसे छुपाने के लिये मैंने गर्दन दायीं ओर घुमा ली है और दीवार पर लगे हुए चित्र को देखने लगा हूँ।

'पहले इन्टरव्यू दी थी, उसका क्या बना?'

'रिटन टैस्ट में तो पास था लेकिन इन्टरव्यू में सिलैक्ट न हो सका। ऐपरोच भी तो नहीं थी।' और मैं फीका सा मुस्करा दिया हूँ।

दीदी उठ कर बाहर चली गयी है। उसी समय परदे के पीछे एक आकृति उभरी। मैं कुछ सीधा हो कर बैठ गया हूँ। परदा हटा तो दीदी की सास थी। मैं उठ कर उन्हें प्रणाम करने लगा हूँ।

'क्या हाल है बेटा? -- बैठो। पिता जी कैसे हैं?'

'जी सब ठीक है।' मेरी नजर अपने बूटों की ओर झुक गयी है और मैं उन्हें सामने पड़े मेज के नीचे छिपाने की कोशिश करने लगा हूँ।

'मैं तो बहू से कब से कह रही थी कि तुम्हें एक पत्र लिख दे। वहाँ से कुछ चीजें मँगवानी थी।'

मैं निरुत्तर सा गर्दन झुकाये बैठा हूँ। मुझे कुछ नहीं सूझ रहा है क्या बात करूँ। कुछ ही देर बाद दीदी चाय की ट्रे लिये हुए अन्दर आयी। माँ जी उठ कर बाहर चली गयी है।

पापा की बिमारी का सुनकर भी मैं उनके पास नहीं आ पाती।...अब तुम्ही पर भरोसा है, उन्हें हर हाल में खुश रखना। बड़े भाई ने हमारे साथ जो किया उसे दोहराने से कोई लाभ नहीं। वो सब भूल जाना ही बेहतर है...।' दीदी का स्वर कुछ भीग सा गया है।

'आओ बाहर बैठते है ...' कहते हुए दीदी उठ खड़ी हुई है। मैं कुछ ऐसा ही चाहता था। कमरे की हवा भी बोझिल सी लगने लगी थी।

बाहर माँ जी खाना बना रही हैं। हमारे आते ही उठ खड़ी हुई और तार पर लटक रहे तौलिये से हाथ पोंछते हुए बोली, 'बहू, बाकी के फुलके बना दे, मैं विमला के यहाँ जा रही हूँ।... तेरे बाबू जी आयें तो उन्हें खाना परोस देना।'

मैं सामने पड़ी कुर्सी पर बैठ गया हूँ। आते-आते सोचा था दीदी से बहुत बातें करूँगा। लेकिन अब ऐसा लग रहा है जैसे वो बातें दीदी के जीवन से बहुत पीछे छूट गयी हैं। कुछ मुस्कुराते हुए कहा है मैंने, 'दीदी, बहुत बदल गयी हो। अब गुस्सा किस पर निकालती हो?'

दीदी ने हँसते हुए क्षण भर को मेरी तरफ देखा और गर्दन झुकाते हुए बोली, 'बदलना ही पड़ता है।' फिर एक चुप्पी सी बँध गयी है।

'तुम खाना खा लो, भूख लगी होगी।'

'नही अभी नही। बना लो, इकट्ठे ही खायेंगे।'

इतने में किसी के ऊपर आने की आहट हुई। मेरी नजर सीढ़ियों के दरवाजे की तरफ उठ गयी है। दीदी के ससुर हैं। मैंने उठ कर उन्हें प्रणाम किया। कुशल-समाचार पूछ कर वे भीतर चले गये हैं।

खाना खा कर मैं दीदी के कमरे में आ गया। थोड़ी देर बाद दीदी भी अन्दर आ गयी।

'जीजा जी कितने बजे आते हैं?'

'पाँच बजे।'

मैं पास पड़ी पत्रिका के पन्ने पलटने लगा हूँ।

'पिछली बार एक कमीज का पीस दे कर आयी थी तुम्हें?'

ऐसा लगा है जैसे किसी ने मुझे गहरी खाई में धकेल दिया है। जिस बात का मुझे डर था वही हुआ। कुछ हिम्मत करके मैंने दीदी की ओर देख कर मुस्कुराते हुए कहा, 'आजकल कपड़ा इतना महँगा नहीं है जितनी मिलायी।'

मुझे अपनी हँसी स्वयं को ही फीकी लगी है। लेकिन कुछ और कहते नहीं बन पड़ा है। छोटी-मोटी बातें पूछते-पूछते दीदी की आँख लग गयी है। मैंने भी करवट बदल ली है।

शाम को जीजा जी आये तो दीदी ने उन्हें मेरी इन्टरव्यू के बारे में बतलाया। जीजा जी मुस्कुरा से दिये हैं। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगा है।

सुबह नौ बजे तैयार हो कर जीजा जी के साथ ही घर से चल पड़ा। मुझे बैंक के नजदीक छोड़ कर वे आगे चले गये हैं।

काफी लड़के आये हुए हैं इन्टरव्यू देने। करीब एक घण्टे बाद मेरा नम्बर आया। बाहर आया तो निराशा से घिर गया, क्योंकि इन्टरव्यू ठीक तरह नहीं दे पाया हूँ।

घर लौटा तो दीदी ने उत्सुकता से पूछा, 'क्या बना?'

'ठीक हो गया है। अभी रिजल्ट तो कुछ दिन बाद ही मिलेगा।'

'काफी लड़के आये होंगे?'

'नहीं, कोई ज्यादा नहीं थे।'

'बिट्टु, मेरा मन कहता है…इस बार तुम अवश्य आ जाओगे।'

मैं मुस्करा सा दिया हूँ।

'दीदी, गाड़ी एक बजे जाती है, मुझे चलना चाहिये।'

'आज रुक जाओ…।'

'नहीं, पापा इन्तजार करेंगे।'

'खाना खा कर जाना।'

'लेट हो जाऊँगा।'

दीदी खामोश हो गयी है। मैं भीतर से बैग उठा कर माँ जी को प्रणाम करने गया तो उन्होंने कुछ मुस्कुराते हुए कहा, 'बेटा, बहू को कुछ

चीजें बतलायी हैं, किसी के हाथ आते-जाते भेज देना।'

स्वीकृति में गर्दन झुका कर आगे बढ़ आया हूँ। दीदी मेरे पीछे-पीछे सीढ़ियाँ उतरने लगी है। नीचे वाले दरवाजे के पास आ कर रुक गया हूँ।

'अब तुम कब आओगी?'

'अभी कुछ नहीं कह सकती। प्रोग्राम बना तो लिख दूँगी।···तुम पत्र लिखते रहा करो। पापा का ख्याल रखना। डाक्टर अंकल को कभी-कभी स्वयं ही बुलवा लिया करो···।'

मैं खामोश हूँ। कुछ क्षण रुक कर दीदी ने कहा, 'ये कुछ चीजें लिख दी हैं। अगले मास पन्द्रह तारीख को करवा-चौथ का व्रत है, ये सब ले कर आ जाना।' और कागज के एक पुरजे के साथ सौ-सौ के दो नोट दीदी ने मेरे हाथ पर रख दिये हैं।

'ये क्या?' मैं चौंक सा पड़ा हूँ।

'कुछ नहीं···।'

मैंने इनकार करना चाहा है लेकिन दीदी ने मेरी मुट्ठी दबा दी है। बैग उठा कर बाहर आ गया हूँ। एक बार फिर पीछे मुड़ कर देखना चाहता हूँ लेकिन हिम्मत नहीं कर पा रहा हूँ।

जयसिंह प्रदीप : जन्म १६४८। शिक्षा डो० लिट। सम्प्रति सहारनपुर के एक पोस्ट-ग्रेजुएट कालेज में समाजशास्त्र-विभाग के अध्यक्ष। कहानियाँ अभी कम ही लिखी हैं। परंतु फिर भी जितना भी लिखा है वह काफी महत्वपूर्ण है।

रोज़-रोज़

अटेन्डेन्स रजिस्टर खोज कर साईन किया। ऊपर टक-टक कर रही घड़ी ग्यारह बजा रही थी। ओ० एस० ने घूर कर देखा था। कुछ बोले नहीं। मैं भी चुप-चाप सीट पर चला गया था। मेज पर पड़ी फाइलों को उलटते हुये सोच रहा था—अभी पे मिलने में दस दिन बाकी हैं। कैसे काम चलेगा। किससे माँगूँ। रमेश शायद दे सकता लेकिन वह तो कल से छुट्टी पर चला गया। बाप्ता से माँगने को जी नहीं चाहता है।

'क्या यार सुबह-सुबह फाइलों में पड़ गया। लगता है, तेरे बिना सरकार का काम ही न चलेगा—कलम घिसे जा रहा है।' मनोज अपनी सीट से उठकर आया था। कहने लगा, 'चलो चाय-वाय हो जाय फिर···'

'अभी-अभी आया हूँ यार,—ओ० एस० माइन्ड करेगा।'

'ओ०एस० की ऐसी की तैसी। क्या उसके गुलाम हैं हम लोग?' उसने हाथ पकड़ कर खींच लिया था। सामने शर्मा की मेज थी। वह रुका, 'क्यों भाई शर्मा जी; आप की तो चाँदी ही चाँदी है। कुछ खिलाओ-पिलाओगे कि बस अकेले। कल वाली पार्टी तो बड़ी दमदार लगती थी··· बाँट के खाओ बेटा। नहीं···।'

शर्मा धीरे-धीरे हँस रहा था।

'हँसता क्या है बे! डेमरेज डील करता था, तो सेक्शन भर को मिठाई खिलाता था। क्यों अजय, झूठ बोलता हूँ मैं···।'

मैंने चुप रहकर स्वीकृति में गर्दन हिला दी।

'तब की बात और थी मनोज बाबू ! अब तो पोजीशन इतनी टाइट है कि कुछ मत पूछो···सीधे डी० सी० एस० के यहाँ चले जाते हैं। साहब नहीं बुलाते हैं। और उसकी लाइट में आने के बाद हो ही क्या सकता···'

'एक ने आते ही कहा भी था—दो हजार डेमरेज है कनसाइनमेन्ट का, कुछ करा दीजिये, खुश कर दूँगा। साहब ने खुद बुला लिया था। चलते वक्त हँस कर 'थैंक्स' कहते हुये चलता बना था। वर्मा साहब का जमाना होता, तो बेटा मैं भी इसके लिए मरा नहीं था। चाय-पानी क्या है, बोतल खुलवाता बोतल।'

'शर्मा खिलाना-पिलाना न चाहो तो साफ कहो। इतना बहस क्यों झाड़ते हो।···चलो, न पिलाओ, तो पिओ ही सही। एक कप चाय से क्या हो जाता है।'

'तीन कप चाय लाना कालू—एक में चीनी कम; हार्ड लीकर ज्यादा।···ऑर्डर देकर कैन्टीन में बैठ गया था मनोज।

'पेपर-वेपर कहाँ है भई ?'

'घूप में ले गये हैं सब, अभी लाया बाबू।'

'देखो शर्मा, हिन्द-महासागर का भी कैसा बखेड़ा है। बउरहिया की गाय ब्यानी, सब लोटा ले-ले दौड़े। इंग्लैंड, अमेरिका, रूस, चीन, सभी आँखें गड़ाये हैं, सुरक्षा का उत्तरदायित्व जबरियन ओढ़ते हैं।'

'यह देखो बेटा, पे कमीशन की रिपोर्ट इनसे पहले···।'

'चुनाव है न, वह तो हो ही जायेगा।'

'क्या कालू, चीनी कम है ? लीकर भी···। थोड़ा दूध भी डालना।'

'अबे साफ क्यों नहीं कहता, आधा कप और चाहिए पन्द्रह पैसे में ही।'

'अच्छा मनोज सेन्ट्रल में कौन जा रहा है, तुम्हारा क्या आइडिया है ?'

'कोई हो, मेरा क्या।'

सीट पर आया, तो तमाम लेटर रिसीव करने थे। कितना आता है,

इसका भी कोई हिसाब नहीं। कुछ एम० आर० जे० डी० एम० पड़े थे। बेकार फाड़ कर वर्क एण्ड को० वाली टोकरी के हवाले कर दिये। क्या रिसीव किया है, जो क्वेश्चन काल होगा। आर्डिनरी लेटरस अलग रखा। कल होगा। दो डी० ओ० लेटर थे एक पार्लियामेन्टरी क्वेश्चन का था। इसे तो आज ही पुट-अप करना होगा,—नहीं तो बॉस दम खाली देगा।

'मँगनू···! मँगनू कागज लाओ भई।' यहाँ कागज पेन्सिल भी नहीं रहता कुछ। कार्बन ऐसा रहेगा कि दबाते-दबाते पेन्सिल टूट जाये।

टिफिन में यही चाय आई थी, मोहन को प्रोमोशन मिला था। अपना रपू चुका रहा था। पन्द्रह साल घिस चुका। हमारा तो साला···? पता नहीं कब प्रोमोशन होगा।

'क्यों मनोज, मिस लता क्या नखरे से ''कर रही है?

'अरे भई अदा है न।'

'मोहन को अब खूब मजा है। लता से नोट्स लेने के लिए आगे-पीछे दौड़ता, सुबह शाम सैल्यूट मारता है।'

'मार्केट में मिला तो पूछा था। कह रहा था—अबे यार, कुछ नहीं है। साली कुर्सी की खिदमत करती है। स्टेनो है तो क्या हुआ? मेहरा था तो उसके आगे-पीछे दौड़ती थी। और कोई आयेगा तो उसके पीछे दौड़ेगी। कह रही थी—आप की मिसेज से मिलने का जी चाहता है।'

'तब तो मजा है भई। एक दिन बुलाओ न।'

'न बाबा घर नहीं।'

'अरे मनोज तुमसे तो लता की बात-चीत है। एक दिन पिक्चर के लिये क्यों नहीं फंसाता? घबड़ाते क्यो हो? पैसा मेरा रहेगा। बस, तुम-टिप्पस भिड़ा दो। हाथ मैं मारता हूँ।' शर्मा काफी इमोशनल हो गया था।

'अबे पिक्चर मे क्या बनेगा।'

'कुछ भी हो, अपने को तो वहाँ भी नसीब नहीं होता। वाईफ कहती

है साल भर हो गया। 'श्रीकृष्ण' आयी है। सक्सेना के घर वाले सब गये थे। मुझे भी दिखा दो। उसे क्या बतलाऊँ पिक्चर लोग रिलेक्स होने के लिए जाते है कि वहां भी जाकर वोर होऊँ।'

पांच बज गया था। अभी घर जाने का मन नही कर रहा था। यहां भी कब तक बैठेगें। चल देता हूँ। देर तक घूमता रहता हूँ। गोदौलिया पर। टी-स्टाल पर बैठ कर एक चाय का आर्डर देता हूँ। सजी-सजी लड़कियों को आते-जाते देखता हूँ। उनके गदराये जिस्म को बेपर्द देखता रहा हूँ। कितनी स्मार्ट है यह सब। काश मेरी भी वाइफ—उसे तो अब्ब बिलकुल होश नही। शर्मा ठीक कह रहा था—लता लिफ्ट देती, तो फिर से एक-एक बार जिन्दगी जी लेते। पचीस-पचीस पास बुक मे बचे होगें। लता की कीमत पर वह भी उड़ा सकता हूँ। और कुछ नही, साथ-साथ घूम लेता। लोग देखते-सोचते, यह धाकड़ अकेला ही नही, इसके भी कोई है। मैं भी सीना तानकर चलता। दोस्त साथी देखें—क्या समझते हैं मुझे '''। चाय खतम हो गयी थी। साँझ को अखबार का सहारा लेना कोई अर्थ नही रखता। उठकर चल देता हूँ। रोबीला चेहरा सामने घूम जाता है। सब्जी खरीदता हूँ और घर की ओर बढ जाता हूँ।

खा-पीकर पुराने अखबार इस तरह पढता हूँ, जैसे रिजल्ट देख रहा होऊँ। कब नीद आ गयी, पता नही। सुबह वाइफ ने चिल्ला-चिल्ला कर नीद हराम कर दी। आठ बज रहा था। जल्दी-जल्दी गुसलखाने गया। गरम पानी से दाढी बनाई। नहाते-नहाते साढे दस हो गये। हाय राम! जल्दी खाना लाओ भी! रोज-रोज देर हो जाती है।

सच्चिदानंद धूमकेतु : जन्म दिसम्बर १९३९ (भागलपुर)। आपकी कहानियां सभी अच्छी और प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। प्रकाशित कहानियों में से कुछ विशेष चर्चित हुई हैं। एक कहानी-संग्रह 'आखिरी कैफियत के बाद' प्रकाशित। आपके दो उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं।

बेलौस आदमी

सोचते-सोचते हरीलालजी की पेशानी चुहचुहा गई। कोई अग्नि-सर्प उनकी काया से निकलकर आज उन्हें ही दंशित कर रहा था। लैम्प पोस्ट के उजाले में उन्होंने अपनी परछाईं देखी। वही अनपढ़ परछाईं, जिसे वे वर्षों से पीठ के कूबड़ की तरह अनिच्छा से ढोये चल रहे थे। शरीर के पसीने की बदबू उनकी नाक को छूती हुई चारों ओर फैल रही थी। कड़वी अनुभूतियां अतीत को दरकाती हुई उन्हें खदेड़ रही थीं। चालीस मील लम्बे अँधेरे का दमघोटू वातावरण और अनचीन्हे भविष्य का हाहाकार

अचानक उनके मुँह से निकल पड़ा, "ओह, इस यात्रा का अन्त कब होगा।" आवाज उनकी दुखती रगों को छूती हुई बेजान सड़क कर पसर गई।

आज भी हरीलाल जी पूर्व निर्धारित समय पर आफिस से घर नहीं लौटे। उन्होंने शाम के पहले ही आने का वायदा किया था। बच्चे पांच बजे से ही उनका इन्तजार कर रहे थे। ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था, बच्चों की बेचैनी बढ़ रही थी। चम्पा भी पति के वापस नहीं लौटने के कारण परेशान थी। रात के आठ बज गए। बच्चों की बेचैनी निराशा से बदल कर गुस्से में परिणत हो चुकी थी और वे पिता के वापस नहीं लौटने का गुस्सा मां पर उतार रहे थे। चम्पा ने उस समय अपने पति का

ही पक्ष लिया था। माँ को पक्ष लेते देखकर अजीत का गुस्सा और भी बढ़ गया और वह पैर पटकता हुआ बोला, "आज भी आठ बज गये न! बाजार बन्द हो चुका होगा। हमलोग के कपड़े नहीं खरीदे गये।'

दीपू तो अभी बच्चा था, लेकिन अजीत की उम्र सब कुछ सोचने-समझने लायक हो गई थी। उसने अपने गुस्से का इजहार चूल्हे पर चढ़े रसोई के बर्तनों को जमीन पर उड़ेल कर किया। उसने पकी हुई रोटियाँ आँगन में बिखेर दी, आग में पानी झोंक दिया।

चम्पा सामानों की बर्बादी देखकर रोने लगी। दीपू भी अजीत का गुस्सा देखकर सहमा हुआ था। हरीलाल की अंधी माँ जिसकी आँखों का ऑपरेशन पिछले जाड़े से ही टाला जा रहा था, वह भी भीतर से अजीत का ही पक्ष ले रही थी। सिर्फ औपचारिकता निभाने के लिए ओसारे के कोने में बँसखट पर बैठी वह हाँ-हाँ करती रही और उँगलियों में पड़े मुनके को तेजी से घुमाती रही।

अजीत अपना गुस्सा उतार कर कमरे में खाट पर लेट गया। दीपू कुछ देर तक दादी माँ के पायताने खड़ा-खड़ा बिखरे सामानों को देखता रहा और वह भी अपने बिस्तर पर पड़ गया। चम्पा आँखें पोंछती हुई आँगन में बिखरे क्षतिग्रस्त सामानों को उठाने लगी। तीखे एहसासों में कसा हुआ पूरा घर बिल्कुल बोझिल बना हुआ था।

बिखरे सामानों को रखने के बाद अजीत के दुर्व्यवहार को भूल कर चम्पा पुनः रसोईघर में जुट गई। चूल्हे ठंडे पड़ गये थे। घर में दियासलाई नहीं थी। पिछले चार दिनों से वह अपने पति को दियासलाई लाने के लिए कहती आ रही थी, लेकिन दस पैसे की दियासलाई के बदले बनिये को पचास पैसे देना शायद वे नहीं चाहते थे। दूसरे सारे सामानों की तरह दियासलाई की भी तंगी देखकर चम्पा तिल्लियों को काफी होशियारी से खर्च करती थी। आग को चूल्हे में सँजोकर रखती। कभी-कभी जरूरत पड़ने पर पड़ोस से आग मँगा लिया करती थी।

इतनी रात को पड़ोस में जाना चम्पा को अच्छा नहीं लगा। अपने

शरीर के कपड़े की दुर्दशा देखकर भी वह जाना नहीं चाहती थी। साड़ी मे जगह-जगह पेवन्द लगे थे, जिसे वह किसी तरह सी-सा कर पिछले दो महीने से काम चला रही थी। यूँ तो बहुत दिनों से पड़ोस मे इधर-उधर जाने का सिलसिला ही चम्पा ने तोड रखा था। किसी से मुलाकात होने पर वह घर-गृहस्थी में बुरी तरह उलझे रहने का बहाना बना दिया करती थी।

आँगन में पसरी उदास रात को चम्पा चुपचाप देखती रही। पिछवाड़े में नीम की डाल पर एक पक्षी कुछ बोल उठा। उसने पनीली आँखों से उसे देखने की कोशिश की और अपशकुन समझ कर थुकथुका दिया।

अपनी फटी साड़ी देखकर चम्पा को पति पर गुस्सा आने लगा। पिछले दो महीने से वह कई बार एक साडी खरीद कर लाने के लिए कह चुकी थी लेकिन वे हमेशा तंगी और महगी का राग अलापते रहे। घर की अभावग्रस्त परिस्थिति से वह इतनी कुढ गई कि अगर वे उस समय आँगन मे रहते तो चम्पा उन्हें अपमानित करने में भी नहीं छोडती।

खड़ी-खड़ी चम्पा सोचने लगी कि इस घर मे आकर उसने कौन-सा सुख भोगा। अभावों मे भरी जिन्दगी। तिल-तिल कर जलता हुआ जीवन। सिर्फ दो जून की रोटियाँ, वह भी सुबह से शाम तक ऐडी-चोटी का पसीना बहाने के बाद। यह भी कोई जिन्दगी है। प्रत्येक खर्च में कटौती। बच्चे पिछले महीने से ही कपड़े बनवाने की जिद् कर रहे है। अगर उनके ऊपर कुछ नाजायज पैसे खर्च हो जाते तो क्या बिगड़ता। पास-पडोस के बच्चे को देखकर उनके दिन में भी पहनने-ओढने की इच्छा होती होगी। वे अपनी प्रकृति के अनुसार अपने को किसी भी रग में ढाल सकते हैं, लेकिन दूसरे लोगों के दिमाग पर तो अगल-बगल की परिस्थितियों का असर पड़ता है। न तो उन्हें इस ओर सोचने की फुर्सत है और न वे सोचना ही चाहते है। सुबह से शाम तक फाइलों में उलझे रहना। दिन भर के बाद आफिस से लौटने पर फिर वही फाइलें। बच्चे पढते है अथवा नहीं, उन्हें फिक्र नही है। अजीत पिछले साल फेल कर गया है। इस

साल भी उसकी पढाई ठीक से नहीं चल रही है। मुहल्ले के आवारा छोकरों की संगत में रात-दिन खेलता रहता है।

चम्पा ने दीपू को पुकारा, "दीपू। चुल्हे की आग बुझ गई है, जरा पड़ोस से ले आ।"

दीपू ने कोई जवाब नहीं दिया। माँ द्वारा बार-बार पुकारे जाने पर वह झल्ला कर बोला, "मैं नही जाऊँगा। जा कर अपने से ले आ।"

चम्पा उसे कोसने लगी। हरीलाल की माँ मौके की तलाश में बहुत देर से बैठी हुई थी। बहू को इस तरह बोलते देख कर बरस पड़ी, "इस घर से शान्ति बिल्कुल चली ही गई। लक्ष्मीजी तो चौखठ से ही वापस लौट चुकी हैं, अब बची-खुची सारी मर्यादा खत्म होकर ही रहेगी। तुम्हें तो अपनी इज्जत की बहुत फिक्र है लेकिन कभी तुमने इन बच्चों की खुशियों के बारे में सोचा है। कितनी बार कहा, लेकिन मेरी सुनता ही कौन है! अन्धी बनकर खाट पर साल भर से पड़ी हुई हूँ। यह नहीं हुआ कि किसी डाक्टर या वैद्य से दिखा दे। कुछ नही तो कम से कम खैराती अस्पताल में भी अगर मुझे दिखा कर एक पुड़िया कोई दवा भी दिया होता, तो मैं जानती। इस जिन्दगी से तो मुझे गले में घड़ा बाँध कर नदी में फेंक आता तो इस नरक से मुक्ति तो मिल जाती।"

चम्पा टोकती हुई बोली, "माँ, बच्चे की बातों के बीच आप क्यों हायतौबा मचाने लगी?"

—"बोल ले वह जितना जी चाहे बोल ले। मेरा रास्ता तो उसी दिन अन्धकारमय हो गया जिस दिन हरी के पिता उठ गये। अब किसे अपनी हालत बताऊँ! हरी अगर कमाता है तो तुम्हारे लिए, मेरे लिए नहीं।"

चम्पा उलाहने भरे लहजे में बोली, "आप तो देख ही रही है कि आपके बेटे की कमाई पर मैं रात-दिन रेशमी ओढ़े रहती हूँ। पलंग से मेरे पैर नीचे नहीं उतरते हैं। जिस दिन से इस घर में पैर रखा है, काम करते-करते हड्डियाँ टूट गईं।"

चम्पा कुछ और बोलती, लेकिन अन्धी माँ भुनभुनाती हुई रोने लगी थी। बिसुर-बिसुर कर रोने की आवाज से इतनी घबरा गयी थी कि वह आगन में अधिक देर तक खड़ी नही रह सकी। अपनी वर्तमान अवस्था को वह भूल गई। अतृप्त इच्छाओं का एहसास सहज ही खत्म हो गया और वह पड़ोस के घर की ओर चल पड़ी।

साल भर से आँखों का इलाज नही कराने के कारण अन्धी माँ को अपने बेटे पर बेहद गुस्सा था। बेटे के सामने तो वह कुछ नही बोल पाती लेकिन जब भी मौका मिलता, चम्पा को तीखी-तीखी बातें सुनाकर कसर पूरी कर लेती थी।

जाड़े के शुरू मे ही वह अपनी आँखे लेकर बैठ गई थी। और हरीलालजी हमेशा अगले महीने का बहाना बनाते हुए उसे ठगते रहे थे। धीरे-धीरे जाड़ा बीत गया! माँ की आँखों का आपरेशन नहीं हो सका।

एक दिन उकताकर माँ ने हरीलाल से पूछा था, "हरी! मेरे मरने के बाद मेरा श्राद्ध-संस्कार करोगे न?" सुनकर एक क्षण के लिए हरीलाल जी चौक पड़े थे। अपने को संयत करते हुए उन्होंने पूछा था, "क्यों माँ, क्या बात है? आज तुमको अपने श्राद्ध-संस्कार की चिन्ता क्यों आ पड़ी। अवश्य कराऊँगा।"

माँ ने कहा था, 'जितने पैसे से तुम मेरा श्राद्ध करोगे, उतने पैसे लगाकर मेरी आँखों का इलाज करा दो बेटा! मेरी लाश को किसी डोम को दे देना। आँखें हो जायेंगी तो जिन्दगी में ही नरक की जिंदगी नहीं भोगनी पड़ेगी।" वह सुबुकती हुई कीच भरी अपनी गीली आँखें पोछने लगी थी।

'कैसी बात करती हो माँ! पैसे जुट जाते है तो आपरेशन अवश्य करा दूँगा।' हरीलालजी के मुर्झाये चेहरे पर अनेक शिकन पड़ गये थे और माँ के अगले प्रश्न की आशंका से घबड़ाकर आफिस की ओर चल पड़े थे, लेकिन ओसारे से रोने की आवाज उन्हे बहुत दूर तक खदेड़ती रही थी।

ऐसी बात नही थी कि हरीलालजी ने पैसे नही जुटाये थे। कम्पनी से

साल भी उसकी पढाई ठीक से नही चल रही है। मुहल्ले के आवारा छोकरों की संगत में रात-दिन खेलता रहता है।

चम्पा ने दीपू को पुकारा, "दीपू। चुल्हे की आग बुझ गई है, जरा पड़ोस से ले आ।"

दीपू ने कोई जवाब नही दिया। माँ द्वारा बार-बार पुकारे जाने पर वह झल्ला कर बोला, "मैं नहीं जाऊँगा। जा कर अपने से ले आ।"

चम्पा उसे कोसने लगी। हरीलाल की माँ मौके की तलाश मे बहुत देर से बैठी हुई थी। वहू को इस तरह बोलते देख कर बरस पडी, "इस घर से शान्ति बिल्कुल चली ही गई। लक्ष्मीजी तो चौखट से ही वापस लौट चुकी है, अब बची-खुची सारी मर्यादा खत्म होकर ही रहेगी। तुम्हें तो अपनी इज्जत की बहुत फिक्र है लेकिन कभी तुमने इन बच्चों की खुशियों के बारे में सोचा है। कितनी बार कहा, लेकिन मेरी सुनता ही कौन है! अन्धी बनकर खाट पर साल भर से पडी हुई हूँ। यह नही हुआ कि किसी डाक्टर या वैद्य से दिखा दे। कुछ नही तो कम से कम खैराती अस्पताल में भी अगर मुझे दिखा कर एक पुडिया कोई दवा भी दिया होता, तो मैं जानती। इस जिन्दगी से तो मुझे गले में घड़ा बाँध कर नदी में फेंक आता तो इस नरक से मुक्ति तो मिल जाती।"

चम्पा टोकती हुई बोली, "माँ, बच्चे की बातों के बीच आप क्यों हायतोबा मचाने लगी?"

—"बोल ले वहू जितना जी चाहे बोल ले। मेरा रास्ता तो उसी दिन अन्धकारमय हो गया जिस दिन हरी के पिता उठ गये। अब किसे अपनी हालत बताऊँ! हरी अगर कमाता है तो तुम्हारे लिए, मेरे लिए नही।"

चम्पा उलाहने भरे लहजे में बोली, "आप तो देख ही रही है कि आपके बेटे की कमाई पर मैं रात-दिन रेशमी ओढे रहती हूँ। पलंग से मेरे पैर नीचे नही उतरते हैं। जिस दिन से इस घर में पैर रखा है, काम करते-करते हड्डियाँ टूट ग ।"

चम्पा कुछ और बोलती, लेकिन अन्धी माँ भुनभुनाती हुई रोने लगी थी। बिसुर-बिसुर कर रोने की आवाज से इतनी घबरा गयी थी कि वह आंगन में अधिक देर तक खड़ी नहीं रह सकी। अपनी वर्तमान अवस्था को वह भूल गई। अतृप्त इच्छाओं का एहसास सहज ही खत्म हो गया और वह पड़ोस के घर की ओर चल पड़ी।

साल भर से आँखों का इलाज नहीं कराने के कारण अन्धी माँ को अपने बेटे पर बेहद गुस्सा था। बेटे के सामने तो वह कुछ नहीं बोल पाती लेकिन जब भी मौका मिलता, चम्पा को तीखी-तीखी बातें सुनाकर कसर पूरी कर लेती थी।

जाड़े के शुरू में ही वह अपनी आँखें लेकर बैठ गई थी। और हरीलालजी हमेशा अगले महीने का बहाना बनाते हुए उसे ठगते रहे थे। धीरे-धीरे जाड़ा बीत गया! माँ की आँखों का आपरेशन नहीं हो सका।

एक दिन उकताकर माँ ने हरीलाल से पूछा था, "हरी! मेरे मरने के बाद मेरा श्राद्ध-संस्कार करोगे न?" सुनकर एक क्षण के लिए हरीलाल जी चौंक पड़े थे। अपने को संयत करते हुए उन्होंने पूछा था, "क्यों माँ, क्या बात है? आज तुमको अपने श्राद्ध-संस्कार की चिन्ता क्यों आ पड़ी। अवश्य कराऊँगा।"

माँ ने कहा था, 'जितने पैसे से तुम मेरा श्राद्ध करोगे, उतने पैसे लगाकर मेरी आँखों का इलाज करा दो बेटा! मेरी लाश को किसी डोम को दे देना। आँखें हो जायेंगी तो जिन्दगी में ही नरक की जिंदगी नहीं भोगनी पड़ेगी।" वह सुबुकती हुई कीच भरी अपनी गीली आँखें पोंछने लगी थी।

'कैसी बात करती हो माँ! पैसे जुट जाते हैं तो आपरेशन अवश्य करा दूँगा।' हरीलालजी के मुर्झाये चेहरे पर अनेक शिकन पड़ गये थे और माँ के अगले प्रश्न की आशंका से घबड़ाकर आफिस की ओर चल पड़े थे, लेकिन ओसारे से रोने की आवाज उन्हें बहुत दूर तक खदेड़ती रही थी।

ऐसी बात नहीं थी कि हरीलालजी ने पैसे नहीं जुटाये थे। कम्पनी से

उन्होंने दो सौ रुपये एडवान्स भी ले लिये थे और माँ की आँखों का इलाज कराने हेतु छुट्टी की अर्जी भी दे दी थी···लेकिन दीपू अचानक मियादी बुखार के चंगुल में फँस गया और कमोवेश करते-करते भी एडवान्स के डेढ़-पौने दो सौ रुपये निकल गये। माँ भी दीपू की बीमारी देखकर चुप लगा गयी और अगले महीने की तनख्वाह का इन्तजार करने लगी।

हरीलालजी के ऊपर कम्पनी का एडवान्स चढ़ गया था। फिर से रुपये लेने का प्रश्न नहीं उठता था। वे कम्पनी के रुपये किस्तों में चुकाते रहे और माँ की आँखों से टपके आँसुओं के प्रवाह में अजनबी लोगों की तरह घर के पथराये दर्द को बेमन झेलते रहे।

अनासक्ति की स्थिति में डूबते-उतराते हुए हरीलालजी रात के दस बजे घर वापिस लौटे। अनुपेक्षणीय लगने वाले सारे प्रश्न आज उन्हें सर्श-कित कर रहे थे। मिटी हुई कोशिशों के उस पार एक और काली कलूटी रात आकर थमी हुई सी-जान पड़ रही थी, जहाँ निष्फल भविष्य का केवल सूनापन ही था।

बरामदे पर घुप्प अन्धेरा छाया हुआ था, लेकिन पैरों की आवाज सुनते ही चम्पा पति के आने की बात समझ गई और वह पटेली खोलकर एक ओर खड़ी हो गई। अजीत और दीपू दोनों सहमे हुए पिता के पैरों की आहट तौल रहे थे।

हरीलालजी ने दरवाजे के एक कोने में अपने पेबन्द लगे जूते को उतार दिया। चम्पा एक क्षण के लिए उनके सामने तो आई लेकिन बिना कुछ बोले ही दूसरी ओर चली गई। जबर्दस्ती साँस कर जगे रहने का सबूत अन्धी माँ ने पेश किया और वह होठ पटपटाती हुई मुनके फेरती रही।

हरीलालजी ने अपनी कमीज खूँटी से टाँगी। शरीर से कमीज हटते ही पसीने की तीखी गन्ध भकभकाकर कमरे में फैल गई। ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर थक कर चूर हुआ शरीर बनियान के अन्दर से जगह-जगह झाँकने लगा जैसे कोई फटा-चिटा नक्शा स्लेटी पत्थर पर फैला हुआ हो और जिसे दीमक इतमीनान से वर्षों से चाटना रहा हो ···। ओसारे पर जलते

लालटेन के शीशे पर कार्बन पुता हुआ था और उसकी उदास पीली रोशनी में हरीलाल जी घर के सभी सदस्यों को अपनी शक्ल दिखाने की कोशिश कर रहे थे।

पत्नी से आँखें मिलते ही उन्होंने अपनी आँखें नीचे झुका ली। कोशिशों के बावजूद भी वे अजीत और दीपू की छोटी-सी इच्छा भी पूरी नहीं कर सके। पूरा घर उन्हें पराये की तरह लग रहा था। चारों ओर फैला सूनापन, चम्पा और बच्चों की चुप्पी, माँ के द्वारा भी कुछ नहीं बोले जाने का कारण उन्हें असह्य लगने लगा। थोड़ी देर के लिए उन्हें अपने आप पर गुस्सा हो गया। अपनी हीन अवस्था पर वे तरस खाने लगे। चिपचिपे चेहरे पर पसीने का भारी बोझ लदा हुआ महसूस हुआ और घबरा कर वे कलेजे पर पसरे बदबूदार पसीने को मुँह की हवा से सुखाने की कोशिश करने लगे।

पत्नी की ओर देखकर धीरे से पूछा—"क्या बच्चे खाना खाकर सो गए ?' चम्पा ने जवाब नहीं दिया। उसने हरीलालजी की ओर उपेक्षा की नजर डाली और रसोईघर में चली गई। हरीलालजी ने भी पत्नी का उत्तर पाने की प्रबल इच्छा नहीं दिखाई और वे मुँह धोने में जुट गये। अन्धी माँ ओसारे पर से घुडकती हुई बोली, "जैसी वह है, वैसे तुम हो। बच्चों ने अभी तक खाना नहीं खाया है। तुम तो मुझे हमेशा ठगते ही रहोगे और मेरी आँखें इस जन्म में ठीक नहीं होंगी, लेकिन बच्चों को बार-बार ठगना अच्छा नहीं है। इनके लिए अगर कुछ कपड़े खरीद ही देते तो क्या बिगड़ जाता! इनका दिल तो नहीं टूटता।' माँ की बातें को सुनकर हरीलालजी को धक्का-सा लगा। वे माँ को कुछ कहना चाहते थे लेकिन तब तक चम्पा आँगन में सबके लिए खाना परस चुकी थी। उन्होंने अजीत और दीपू को खाने के लिए बुलाया लेकिन वे दोन अपने कमरे में ही गुमसुम पड़े रहे। अन्धी माँ टपकती हुई बोली, 'तुम्हें इन लोगों को नहीं बुलाना चाहिए। मालूम होता है कि तुमने बच्चों को पैदा नहीं किया है बल्कि सड़क पर से उठा लाये हो।'

कहकर वे चुप हो गये। पत्नी ने पुनः टोका, "और कुछ खाओ न। कितने दुबले होते जा रहे हो।" चम्पा ने दो रोटियाँ उनकी थाली में डाल दी। वे सिर झुका कर धीरे-धीरे खाने लगे। अजीत और दीपू भी अनमनस्क-सा खा रहे थे। हरीलालजी ने उनकी ओर देखा। उनके उखड़े स्वभाव को देखकर उन्हें बच्चों से बोलने की हिम्मत नहीं हो रही थी।

सोचने लगे कि अजीत को उनसे शिकायत होना स्वाभाविक ही है। सबसे वे हमेशा झूठ ही बोलते रहे हैं। अजीत को तो वे बचपन से आज तक ठगते रहे हैं। छुटपन में जब अजीत चाँद को लेने की जिद करने लगता था तो वे उसे इधर-उधर की बातें बनाकर ठगने की कोशिश किया करते थे। चाँद की ओर हाथ उठाकर पकड़ने की मुद्रा बनाते और अजीत से मुस्करा कर कहते, "ले लो चाँद। मुँह खोलो खिला दूंगा!' और अपनी खाली बन्द हथेली अजीत के मुँह में भटाकर कहते, "चाँद को खा लिया न! अब चुप हो जाओ...।" अजीत की समझ में कुछ नहीं आता था लेकिन वह चुप अवश्य लगा जाता था।

अजीत और दीपू अभी तक खा रहे थे। हरीलालजी का खाना खत्म हो चुका था। उड़ती नजरों से उन्होंने एक क्षण के लिए अजीत की ओर देखा फिर उनकी आँखें फिसलती हुई चाँद पर टिक गई। एक पीला, उदास चाँद घर के पिछवाड़े में नीम की फुनगी पर बैठा बाप-बेटे को देख रहा था। सोचते-सोचते अचानक हरीलालजी को महसूस हुआ कि वृक्ष पर लटका चाँद टूट-टूट कर नीचे गिर रहा है और उसके बोझ से उनका शरीर धीरे-धीरे दबता चला जा रहा है।

जवाहर सिंह : जन्म बिहार के सारण जिले में। सम्प्रति राजकीय डी० एम० कालेज इम्फाल में हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक। रचनायें सभी प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं, कुछ बेहद चर्चित भी हुई हैं। आपके अब तक तीन उपन्यास तथा एक कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। एक उपन्यास तथा दो कहानी-संग्रह शीघ्र प्रकाश्य।

गांव की लाश

दरवाजे के आगे सहन में नीम का सघन छतनार पेड़ है। बाबू जी उसी की छाया में झिलगी-सी बँसखटिया पर दोनों पैर नीचे झुलाये, घुटनों पर दोनों कोहनियां टिका कर बैठे हैं। झुका हुआ सिर दोनों हथेलियों पर टिका है। दूर से ही देखता हूँ, कुछ अपरिचित से लगते हैं। हथेलियों में ढका हुआ एक अपरिचित चेहरा।

दूरी के साथ साथ वह अपरिचय भी सिमटता जा रहा है और दृष्टि किसी पुराने बरगद की सूखी बरोह सी रूखड़ी बेडौल टाँगों पर जम जाती है। उनकी टाँगें सूख कर कैसी निर्जीव-सी हो गयी है। अटेची जमीन पर रख कर पैर छूता हूँ तो आँखें अपने आप उधर से हट जाती है। वह कुछ घबरायें-से सिर ऊपर उठाते हैं। उनकी चौंधियायी आँखें पहिचान की सतह तलाशती-सी एक क्षण तक मेरे चेहरे और शरीर पर भटकती रहती हैं। झुर्रियों भरे हाथ में थोड़ी हरकत सी होती है, शायद उनके भीतर का पिता बेटे को छूकर किसी खोये हुए प्रत्यय को पुनः पा लेना चाहता है। मैं थोड़ा झुक जाता हूँ, उनके हाथों के वत्सल स्पर्श की प्रतीक्षा में। बिना स्पर्श के ही मैं अपनी पीठ पर चींटियों के रेंगने जैसी एक सिहरन-सी अनुभूति महसूस करने लगता हूँ…शायद वह पिता का स्नेह ही है जो बादलों में छिपे सूरज की तरह बिना दीखे भी गर्मी पहुँचाता है।……

लेकिन उनका हाथ मुझ तक नही पहुँच पाता। मैं देखता हूँ शून्य में झूलती हुई एक झुर्रीदार असमर्थ हथेली। मैं उन झुर्रीदार हाथों, वरोह सी सूखी टाँगों और उनके भावशून्य निर्जीव चेहरे को एक क्षण के लिये अपनी आँखों मे समेट लेता हूँ और मेरा मन रोने-रोने को हो आता है।

'पत्र मुझे' बहुत विलम्ब से मिला······कालेज के लडकों के साथ एक्सकर्शन पर चला गया था······वहाँ से लौटा तो···।'

वात शुरू करने के लिये कोई आधार न पाकर मै घबराहट मे सफाई देने लगता हूँ। जानता हूँ, यह बात पीछे भी कही जा सकती थी, पर बाबूजी की खामोश निगाहो से भयभीत होकर तुरंत मैं दूसरी कोई बात सोच भी नही सका था।

बाबूजी के लिये जैसे इस सफाई की कोई अहमियत नही है। शायद मेरे घर आने या नहीं आने का भी अब उनके लिये कोई विशेष अर्थ नही रह गया है। उनके भाव शून्य निर्विकार चेहरे को देखकर मुझे कुछ ऐसा ही लगने लगा है। मै और भी घबरा जाता हूँ। आशा थी, मेरी बात सुनकर वह कुछ बोलेंगे···पूछेंगे, लेकिन वह तो अब मेरी ओर देख भी नही रहे है। उनकी आखे कही और टिकी है···शायद सामने के सदर दरवाजे पर या दीवार पर। एक अजीब-सी थकान और अवसाद भरा है उन चौंधियायी आँखों मे। सम्पूर्ण प्रवेश के प्रति गहरी उदासीनता···वेगानापन।

'आपने मा की बीमारी की कोई सूचना भी तो पहले नही दी थी।' कहना चाहता हूँ, पर नही कहता। शायद उनको कुछ तकलीफ हो। सोचे सारा दोष मेरे ही मत्थे मढ़ रहा है।

'क्या हुआ था मां को ?' बहुत साहस कर पूछता हूँ।

वह मेरी ओर केवल देखते है।···उनकी बुझी-बुझी खामोश दृष्टि। एक लम्बी-सी सास लेकर आखों को शून्य मे भटकने के लिये छोड़ देते है। मुझे बड़ी खीज-सी होने लगती है। अपनी तरफ से मैं कितना भी प्रयत्न करूं, उनको जब बोलना ही नहीं तो······

थोड़ी देर तक यों ही खड़ा रहता हूँ···शायद बाबूजी बहुत नाराज है,

सोचता हूँ। मा की मृत्यु के समय मेरा नहीं आना शायद बाबूजी को कही बहुत गहरे छू गया है।···इन्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ कि ठीक समय पर मुझे सूचना नही मिल सकी।···लेकिन भैया चाहते तो टेलीग्राम से भी माँ की गम्भीर हालत की सूचना दे सकते थे। मेरे एक्सकर्शन पर जाने के दो दिन पहले माँ मर चुकी थी। टेलीग्राम न देकर माँ के मरने के दो दिनों के बाद पोस्ट-कार्ड द्वारा सूचना देना···आखिर भैया ने ऐसा क्यों किया।

मैं वही खड़े-खड़े सारी बातें सोचता रहता हूँ। बाबूजी अब भी मेरी उपस्थिति से पूर्णतः निरपेक्ष शून्य में आँखें फैलाये कुछ देखे जा रहे हैं।··· शायद माँ की मृत्यु ने बाबूजी को बहुत भीतर से हिला दिया है···यह टूटन! इतने बूढ़े तो वह मुझे कभी नही लगे थे। अभी पाँच महीने पहले दशहरे की छुट्टी मे आया था तो हँस कर बोले थे, 'जानता हूँ, यहाँ तुम्हारा मन नही लगता, दो-चार दिनों में ही भागने के लिये छटपटा जाते हो।···इस साल तेरी शादी करके ही छोड़ूगा···जब तक बंधन नही होगा, तुम यों ही घर से भागे-भागे फिरोगे।' तब बरबस मेरे होठों पर मुसकान आ गयी थी। तब इनको शायद लगा था, मैं शादी करने के लिये तैयार हो गया हूँ। बड़े खुश हुए थे। यों ही इधर-उधर की बातें करते सड़क तक मुझे छोड़ने आ गये थे। लेकिन इस बार कितना बदले-बदले नजर आ रहे है, तन से ही नहीं, जैसे मन से भी टूट गये हों।

बाबू जी के पास अब अधिक देर तक खड़ा नही हुआ जा सकता। जब इन्हें कुछ बोलना ही नही है, तो मेरा कुछ भी पूछना व्यर्थ है। हाथ में अटैची उठा कर घर के अंदर जाने को होता हूँ कि सहसा रुक जाता हूँ। उनके चेहरे पर ध्यान से देखता हूँ।

'क्या आपकी तबीयत ठीक नही है?'

सिर उठाकर वह मेरी ओर देखते हैं, जैसे पहचान को वह सतह कहीं पीछे छूट गयी थी, उसे ही फिर तलाशने लगे हों।

'ठी-ई-ई-क ही हूँ···।' भीतर से जबरजस्ती खींच कर लाया गया

एक छोटा सा वाक्य···उत्तर।

उसी नंगी झगोली खटिया पर एक हाथ रोप कर वह धीरे-धीरे उठंग जाते है। आंखें बंद हो जाती है या झुर्रियों के कारण मुझे वन्द-सी लगने लगी हैं। खड़े-खड़े उनकी ओर देखता रहता हूँ···अपलक। मन न जाने कैसा-कैसा हो जाता है।

देहरी पार कर दोमुहे कमरे में कदम रखते ही ठिठक जाता हूँ।··· कितना वीरान और अपरिचित-सा लग रहा है यह कमरा, जैसे यहा कोई पेड़ था, जो अब नही रहा··· कोई दीवाल थी, जो ढह गई! गोबर मिट्टी की एक अजीब सांधी सी गंध से कमरा भरा है। शायद कुछ ही देर पहले फर्श की लिपाई हुई है।

दृष्टि एक जगह चिपक-सी जाती है···यहा मा की चारपाई हुआ करती थी। उस कोने में मा का पुराना काठ वाला बड़ा सा बक्सा पड़ा रहता था, जिस पर मां अपना छोटा हुक्का, चिलम और तम्बाकू का मौना रखा करती थी। अब वहा कुछ भी नही है, न मा की चारपाई, न तम्बाकू के सामान और न वह बक्सा ही। गत पाच-छः वर्षों से इस कमरे मे मा के साथ इन सब चीजों की यथास्थिति का एक ऐसा नक्शा मन और आंखों में बैठ-सा गया है कि आज उसका नही होना—उसके होने की अनुभूति अधिक तीव्रता से होने लगी है। भैया की शादी के बाद से मा इसी दोमुंहे वाले कमरे में रहने लगी थी। उस बड़े से काठ के बक्से में उसके विवाह के समय वाली जरी की कामदार साड़ी, सुहाग का लाल सिन्दोरा, सोने-चाँदी के पुराने ढंग के कुछ गहने और ना जाने कितनी और सारी चीजें पड़ी रहती थी। बहुत पहले की एक बात सहसा याद हो जाती है। शायद पड़ोस मे किसी के घर बारात आने वाली थी। मा ने उस बक्से मे से जड़ी वाली लाल साड़ी और अपने सारे गहने निकाल कर पहन लिये थे। मैं बगल मे अपना बस्ता दबाये शाम पाठशाला से लौटा तो आगन में मा को लाल साड़ी और आभूषणों से सजे-धजे खड़ी देख कर सहसा पहचान ही न सका था। मुझे लगा था, सीता की मउजी होंगी,

पिछवाड़े से छिपकर चली आई होगी मा से कुछ मागने ।

मैं 'माई माई' पुकारता रसोईघर में मा को ढूंढने चला गया था । तब तक मा हंसते-हंसते आगन में लोट-पोट हो रही थी । तभी बाबूजी बाहर से आ गये थे ।

'क्यों भोल की मा, इतना हंस क्यों रही हो ?'

'यह देखो न, राजू अभी पढ़ कर लौटा तो आंगन में मुझे खड़ी देख कर पहचान भी न सका··· उधर रसोई में ढूढने चला गया ।···क्या मैं यह साड़ी पहन कर इतनी बदल जाती हूं !' पता नही, फिर बाबूजी ने क्या कुछ कहा था कि मा बुरी तरह लजा गई थी और बाबूजी हंसते हुए लौट गये थे ।

सच, उसी साड़ी में मा कितनी बदल जाती थी !

उस समय की कितनी-कितनी बातें याद आने लगी हैं । मा ने भैया की शादी के समय अपना बक्सा खोल कर सारे गहने निकाल कर आगन में रख दिये थे ।

'राजू, तू अपनी बहु के लिए चुन ले जो-जो पसन्द हो···ये सब असली सोने के हैं, अब तो असली सोना मिलता भी नही ।' हंसते हुए उसने कहा था । मैं भला अपनी बहू के लिए गहने क्या चुनता, लजाकर हंसते हुए भाग गया था ।

बचपन के दिनों की बहुत सारी स्मृतियां एक दूसरे को पीछे ढकेल-कर आगे बढने को बेताब-सी हो रही हैं । मा की कितनी ही आकृतियां आंखों के अलबम में कैद हैं···कितनी ही पूरी-अधूरी बातें अब भी कानों में गूज रही हैं । मुझे लगता है, यह कमरा नितांत खाली और वीरान होकर भी मा से भरा हुआ है··· । उसकी बहुत सारी स्मृतिया इन दीवालों में कहीं-कहीं चिपक कर रह गयी हैं ।

भाभी ना जाने कब से आगन में जाने वाले दरवाजे पर आकर खड़ी हो मुझे एकटक देख रही हैं । शायद वह मुझे मा की यादों में खोया हुआ देख कर बिना कुछ बोले ही वहा ठिठक गयी थी । वह आगे बढ कर मेरे

हाथ से अटैची लेने लगती हैं तब सहसा उनकी उपस्थिति से मैं चौंक-सा जाता हूँ। घबराहट में मेरे हाथ से अटैची छूट जाती है। भाभी तब भी कुछ नही बोलती, अटैची उठा कर आगन में चली जाती है। मेरे हाथ नमस्ते की मुद्रा में उठे हुए रह जाते है

'नमस्ते'।

भाभी संबोधन न जाने क्यों मुंह से नही निकल सका।

'नमस्ते।' उनके होठों पर मुस्कान नही है, कोई दर्द या अवसाद भी नही, भाव शून्य, एक सपाट चेहरा।

मेरे आने पर यही भाभी पहले कितना खुश हुआ करती थी। आगन में कदम रखते ही मुस्करा कर कोई ऐसी मजाकिया बात कह देती थीं कि बहुत देर तक भीतर ही भीतर गुदगुदी उठती थी। अपने हाथों से मेरा जूता और मोजा उतार कर पैर धोने के लिए लोटे मे पानी रख देती थी। पहले तो स्वयं ही मेरा पैर भी धो दिया करती थी, पर मैंने ऐसा करने से रोक दिया। भैया के विवाह के बाद डेढ़ साल पर मैं घर लौटा था। भाभी बहुत देर तक मेरे सामने नही आयी थी, कमरे के अंदर से ही कुशल-क्षेम पूछती रही थी। तब मैंने खीझ कर कहा था, 'क्यों भाभी, चाद क्या अब बादलों के ओट मे ही छिपा रहेगा ?'

'चाद मे कलंक जो लग गया है बबुआ जी, कैसे चेहरा दिखायें!' भाभी कुछ ऐसे स्वर मे बोली थी कि मैं सचमुच के किसी कलंक की कल्पना कर सिहर उठा था। फिर मां ने ही बतलाया था, 'बहु के दिन पूरे हो गये है, तुम्हारे सामने आने में लजाती है।'

उस दिन बहुत देर तक भाभी को छेड़ता रहा था मैं।

'मुंह हाथ धोइये, तब तक मैं चाय तैयार कर देती हूँ।' भाभी रसोई-घर के दरवाजे पर से बोली है।

इच्छा होती है, चाय के लिये मना कर दूं, पर कुछ बोलता नही। पता नही क्यों सारे घर मे मुझे एक अजीब-सी उदासी तैरती लग रही है··· कुछ बेगानापन ···

एक मा के न रहने से ही क्या घर का वातावरण इतना बदल सकता है ! और सब लोग तो हैं ही—बाबूजी, भैया, भाभी, दीपक ···सब है, फिर यह घर मुझे इतना वीरान सा क्यों लगने लगा है ! मैं सोचता हूँ और आगन के बीच मे तुलसी चौरे पर मेरी आखें स्थिर टिकी रहती हैं। पिछली छुट्टियो मे आया था तो मा इसी तुलसी चौरे के पास बैठ कर कह रही थी, 'राजू, अब शादी कर ले बेटा, मेरा कोई ठिकाना नहीं··· तुम्हारी बहू देखने की साध रह गयी है।···तेरी बहू के लिये मैंने सारे जेवर बनवा लिये हैं··· तुम्हें दिखाऊंगी, सब असली सोने के हैं।'

फिर मां मेरे पास खिसक आयी थी और फुसफुसा कर बोली थी, 'बड़कू मुझ से मुंह फुलाये है कि मा अपने सारे गहने राजू की बहू के लिए ही छिपा कर रखे थी···मेरी शादी मे आलतू-फालतू दे दिया।' मा की ऐसी बातो पर मुझे बरबस हसी आ जाती थी। इसके लिये अपने गहने ही सब कुछ हैं। पता नही मा को बड़के भैया से छिपा-छिपा कर मुझे कुछ देने मे इतना मजा क्यों आता था।··· शायद बड़कू से मुझे अधिक प्यार करती थी वह।·· लेकिन क्यो ? मा की यह बात अब तक मैं नही समझ सका··· शायद भैया की मेरे प्रति उपेक्षा देख कर मा का प्यार कुछ बेईमान हो गया था। लेकिन आज यह सब मै क्यों सोचने लगा हूं।···जब मा नही रही तब उसकी नीयत के बारे मे ऐसा कुछ सोचना···

'चाय लीजिये··· ।'प्याला हाथ मे लिये सामने भाभी खड़ी है। मैं उनके चेहरे पर देखता हूं। मुसकराने की कोशिश में होठ कुछ खुले है, पर मुस्कान जैसा कुछ वहां नही है।

'आप इतना उदास क्यो हैं।···मा जी की उमर तो मरने की हो ही गयी थी।' एक पल रुक कर इतना और जोड़ देती है, 'किसके मां-बाप सदा साथ रहते है।'

मैं भाभी की ओर नही देखता। उनके हाथ से प्याला लेकर धीरे-धीरे चाय पीने लगता हूँ।

'मा जी अंतिम समय में आपको ही याद करती रहीं···'

...

भाभी आंखों पर आंचल रख लेती है। मेरे हाथ में चाय का प्याला कापता है ... इच्छा होती है, फफक कर एकबारगी ही रो पड़ू। भीतर कोई चीज तेजी से घुमड़ने लगती है। मैं उसे दबाने की कोशिश में सिर नीचे झुका कर जमीन पर अंगुली से रेखाएं खींचने लगता हूँ ... रेखाएं जो एक दूसरे को कई जगह काटती है और कही से शुरु होकर कही भी चली जाती है।

'भैया कहा गये है ?' मैं प्रसंग बदलने के लिये पूछता हूँ।

'नहर या खेत की सिंचाई हो-रही है, वही होगें।' भाभी जमीन पर से प्याला उठा कर चली जाती है।

शाम को बहुत देर तक नहर के किनारे टहलता रहता हूँ। बचपन और स्कूल के दिनों के कई दोस्त साथ रहते है, पर उनसे घिरा रह कर भी पूरे समय जैसे अकेला ही रहता हूँ या शायद उनके साथ होने से ही अकेला होने का अहसास मुझे और अधिक होता रहा है। किसी भी चेहरे पर पुरानी पहिचान की आत्मीयता नहीं है। लगता है, सब एक खास दूरी पर खड़े हो मुझे अपरिचित नजरो से देख रहे है। पहले गाव आता था तो ये ही दोस्त गंवई रोमास की कितनी ही कच्ची-पक्की घटनाएं सुनाया करते थे, शहर की जिन्दगी और वहा के रोमासों के बारे मे सुनने को उत्सुक रहते थे। लेकिन अब तो समान्य सलाम-दुआ और 'कब आये' 'कब तक रहोगे' जैसे कुछ घिसे-पिटे वाक्यों के अतिरिक्त इनके पास कहने और पूछने को कुछ रह ही नही जाता।

क्या हो गया इन्हे ... या मुझमे ही कुछ ऐसा हो गया है ... होता जा रहा है कि मेरे भीतर का गाँव मुझे स्वयं ही अपरिचित सा लगने लगा है।

कालेज मे पढ़ते समय के वे दिन याद आते हैं। छुट्टियाँ होने को आती थी तो कई दिनों पूर्व से ही घर पहुँचने की कल्पना से भीतर ही भीतर एक विचित्र प्रकार की सिरहन सारे शरीर मे होने लगती थी। रेल और बस में बैठे-बैठे घर और गाँव के कितने ही जाने-पहचाने चेहरे,

बचपन के खेल-कूद की कितनी ही यादे आँखों में तैरने लगती थी। माँ, बाबूजी, भैया, भाभी और कई यार-दोस्तों के चेहरे रेल की खिड़की के बाहर फैले अंधकार में मुझे अलग-अलग प्रोफाइलों मे दिखाई पड़ने लगते थे! पर अब तो अपने क्वार्टर से स्टेशन पहुँच कर भी कई बार खरीदा हुआ टिकट लौटा कर वापिस चला जाता हूँ। आखिर ऐसा क्या हो गया है मेरे साथ। छुट्टियों मे घर आते समय की वह पुरानी सिरहन अब मुझे क्यों नही छू पाती।

कई बार सोचता हूँ, ऐसा क्यों होता जा रहा है···सारे रिश्ते, सारे संबंध अब पहले की तरह मुझे क्यों नही बाँध पाते···गाँव का सारा कुछ पहले की तरह मुझे पूरा का पूरा अपने में क्यो नही समेट पाता। कभी-कभी लगता है, सारे के सारे रिश्ते, संबंध और गाँव का आकर्षण मुट्ठी में बंद सूखी रेत की तरह चुपके-चुपके मेरे भीतर से धीरे-धीरे सरकते जा रहे हैं और मै उन्हे अब भी मुट्ठी मे बंद किये रहने का झूठा अहसास लिये बैठा हूँ। शायद मुट्ठी खोल कर देखना भी नही चाहता कि कही मुट्ठी की रिक्तता मेरे उस झूठे अहसास को भी न समाप्त कर दे।

नहर किनारे से लौटते समय मन और भी भारी-भारी लग रहा है। गाँव के तीन-चार लड़के मिले थे। कोई एम०ए० पास कर दो साल से बेकार बैठा है, तो कोई बी० ए० और बी०ए० बी०टी० करके भी चार साल से किसी स्कूल में नौकरी नही पा सका है। आज ही मालूम हुआ, मेरे बाद के कितने लड़कों ने एम०ए० और बी०ए० कर लिया है। सब की एक ही शिकायत है, "भैया- गाँव मे मन नही लगता। न क्लब, न सिनेमा, न वह चहल पहल और रंगीनी···गाँव मे भला है ही क्या कि मन लगे। शहर में कोई नौकरी मिल जाय तो लौट कर इस गाँव का मुँह भी न देखूं। गाँव अब रहने लायक नही रह गया है···यहाँ की पालिटिक्स! मत पूछो भैया, यहाँ के लोग तो बेईमानी, स्वार्थ, तिकड़म और लगाव-फसाव की ट्रेनिंग अब शहर वालों को भी दे सकते हैं।'

बहुत देर तक ग्राम पंचायत, ब्लॉक, बी०डी० ओ०, मुखिया-सरपंच

और हास्पिटल के डाक्टर को शिकायतें सुनते-सुनते मैं ऊब कर उनसे विदा ले लेता हूँ। लेकिन उनसे अलग होकर भी कहाँ अलग हो पा रहा हूँ। निराशा, ऊब और असमर्थता की पीड़ा झेलते वे चेहरे, जैसे अब भी मेरे पीछे-पीछे चल रहे है। सोचता हूँ, उनकी पीड़ा और मेरी पीड़ा के उत्स एक ही नही है, फिर भी परिणाम की दृष्टि से मैं भी एक ही धरातल पर उनके साथ खड़ा हूँ। पहले सा गाँव अब अब मुझे बाँध नही पाता और शहर उन लोगों को अपना नही पाता, कही एक ही सिक्के के दो पहलू तो नही हैं। व्यवस्थित और अव्यवस्थित के असंतोष की पीड़ाएँ क्या गाँव और शहर के बीच कोई पक्की दीवाल तो नही खींचने लगी है।

यही सब सोचते हुए आँगन में आकर खड़ा हो गया हूँ। पहली साँझ के मटमैले अंधकार से लीपा हुआ आगन। रसोई घर के चौखट पर भैया बैठे है। उनकी पीठ आँगन की तरफ है, ढिबरी की मद्धिम रोशनी मे केवल सिर दिखाई दे रहा है। अंदर भाभी होंगी, अनुमान से ही समझ लेता हूँ। बातचीत का एक छोटा टुकड़ा कानो में पड़ता है। मेरे ही बारे मे भैया कुछ कह रहे हैं।

'राजू 'उस' संबंध मे भी कुछ पूछ रहा था-?'

'किस संबंध में ?' कड़ाही मे कलछी का चलना एक पल के लिये रुक जाता है। तेल मे जीरा और प्याज की जलती हुई छौंक की गंध आँगन मे भी फैलने लगी है।

'माँ के गहनो के बारे में•••।' भैया की आवाज बहुत धीमी है।

'नही तो।'

'अगर पूछे तो कह देना, माँ की बीमारी और उनके क्रिया-कर्म मे वे सब बेच कर खर्च कर दिये गये।'

एक क्षण की खामोशी।

'आप ही कह दीजियेगा••••••मुझ से••••••' भाभी के स्वर मे हिचकचाहट है।

'और तुम कह दोगी तो क्या होगा…बड़ा हरिश्चन्द्र बनने लगी हो।' भैया की आवाज में खीझ से भी अधिक उत्तेजना है।

फिर उन्ही की आवाज सुनाई देती है। 'वह अपनी कमाई का एक पैसा भी हमें देता है?…सारे रुपये बैंक में जमा करता है, अपने नाम। दो बूढ़ा-बूढ़ी का खर्च हम चलाते रहे।…माँ तो साफ-साफ उसका पक्षपात करती रही…जैसे मैं कहीं कूड़े की ढेर से उठा कर आया था?' भैया की आवाज काफी तेज है। मुझे अब वहाँ खड़ा रहना अच्छा नहीं लगता। मन न जाने कैसा-कैसा होने लगता है? बाहर निकलने के लिए दरवाजे की ओर बढ़ने लगता हूँ, तभी भैया की आवाज फिर सुनाई देती है, 'इसीलिये तो बाबू जी कितना कहते रह गये, मैंने माँ की बीमारी के समय उसके पास तार नहीं दिया।…माँ उसे क्यों बुलाना चाहती थी मैं खूब समझता था।…और वह बुड्ढा…वह भी तो उसी को… मैं सबकी नस-नस पहचानता हूँ।'

'अच्छा…अब चुप भी रहिये…आपको तो सब बेईमान ही दिखाई देते हैं।' भाभी खीझ कर बोलती है।

और कुछ सुनने का धैर्य मेरे अंदर नहीं रहता। बाहर के बरामदे में आकर चुपचाप बैठ जाता हूँ।

थोड़ी देर में भैया अंदर से निकलते है तो मुझे चुपचाप बैठे देखकर निकट चले आते है। कंधे पर हाथ रख कर बड़े स्नेह से कहते है, 'राजू, तुम इतना उदास क्यों हो? माँ न रही तो क्या हुआ, मैं तो हूँ, तुम्हारी भाभी तो है और अभी तो सब देखने-करने वाले बाबूजी बने ही हुए है। जाओ अंदर तुम्हारी भाभी चाय के लिये कब से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हैं।…भई, माँ के मरने का मुझे क्या कम दुख है, पर यही दुनिया की रीति है…।'

मैं भैया के चेहरे की तरफ देखना चाहता हूँ पर अंधकार के कारण कुछ भी साफ-साफ दिखाई नहीं पड़ता। मुझे भीतर ही भीतर बड़ी राहत-सी मिलती है, भैया का चेहरा मुझे नहीं दिखाई पड़ता। इतनी ही

देर में उनका स्वर कितना बदल-सा गया है। लगता है, यह आवाज आज जीवन में पहली ही बार सुन रहा हूँ···एक अपरिचित, बेगानी आवाज।

बाबूजी बगल की चारपाई पर लेटे हैं। मैं उनकी ओर देख कर कहता हूँ, 'सोचता हूँ कल चला जाऊँ।'

'···क्यों आज ही तो आये हो, इतनी जल्दी क्या है?' बाबूजी नहीं, भैया ही बोलते हैं।

"जल्दी तो नहीं है···फिर भी···यहाँ कोई काम भी तो नहीं है।' भीतर की उदासी शायद मेरे स्वर में घुल आती है।

'कैसी बातें कर रहे हो राजू, क्या कोई काम होता है तभी कोई अपने घर आता है···रहता है?' भैया के स्वर में जो आत्मीयता है, वह मुझे बिना छुये ही ऊपर से बह जाती है।

मैं कुछ और भी बोलना चाहता हूँ, पर बात भीतर ही घुमड़ कर रह जाती है।

दूसरे दिन चलने के समय जब बाबूजी के पैर छूने के लिये झुकता हूँ तो उनकी आखें गीली हो आती हैं।

'आपको कोई तकलीफ है बाबूजी?' नहीं चाहते हुए भी मेरे मुँह से निकल पड़ता है।

'मुझे भी अपने साथ ले चलो, राजू···मुझे यहाँ अब····' वह पूरी बात नहीं कह पाते और अकबका जाते हैं।

'हाँ राजू, बाबूजी बहुत दिनों से शहर जाने की बात करते रहे हैं। ले जा सको तो एक बार···!' भैया बोलते समय दीवाल की ओर देख रहे हैं।

मैं एक क्षण तक बाबूजी के चेहरे पर दृष्टि स्थिर किये देखता रहता हूँ। वहाँ एक आतंक है···असुरक्षा का भय। लगता है, उनकी आँखों में मृत्यु का भय प्रार्थना बन कर तैर रहा है।

'मैं बाबूजी को अपने साथ ले जाऊँगा।' सहसा मेरे मुँह से निकल पड़ता है। भैया मेरी ओर अविश्वास से देखते हैं··· 'जैसा ठीक समझो।'

स्टेशन जाने के लिये बैलगाड़ी पर बाबूजी को सहारा देकर बैठाता हूँ तो वह मेला जाने के लिये तैयार बच्चो की तरह मेरी ओर देख कर मुसकराते हैं। अब उनके चेहरे से कुछ देर पहले वाला आतंक और भय समाप्त हो गया है। पर पूरी यात्रा मे उनकी बगल में बैठे-बैठे मुझे लगता रहता है, मैं गाँव की लाश के साथ शहर जा रहा हूँ।

श्याम किशोर सेठ : जन्म २४ अगस्त १९५१ । कहानियां लगभग सभी प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। कुछ ने विशेष आकर्षित किया है । शिक्षा एम० ए० । आजकल हिन्दी कहानियों पर शोध-कार्य में संलग्न हैं। साथ ही शाहजहांपुर से 'प्रतिमान' पत्रिका का सम्पादन-प्रकाशन भी कर रहे हैं।

कीड़ा

बहुत दिनों से उसके दिमाग में जो कीड़ा कुलबुला रहा था, उससे अब उसे मुक्ति मिल गई थी। कष्ट की चिंता जितनी दीर्घकालीन और त्रासदायक थी, उससे मुक्ति की प्रक्रिया उतनी ही सहज और सरल। सही में, प्रक्रिया का अस्तित्व ही न था, उसे कष्ट से मुक्ति तो अचानक ही मिल गई थी। मरीज डाक्टर के पास बहुत दिनों से महसूस होते रोग के कष्ट के निदान के लिए जाय और डाक्टर कह दे कि वह मरीज ही नही है, उसके साथ कुछ ऐसा ही हुआ था।

उस अवांछित कीड़े के जन्म की सद्यता या तुरन्तता और उसके अंदर अपने नन्हे पैर जमाने की उसकी दुष्क्रिया उसके लिए अज्ञात थी। उसे खटके की खबर तो तब लगी थी, जब कीड़े ने उसी का खून पीकर, उसी के दिमाग में धीरे-धीरे रेंगना शुरू कर दिया था। यह एक बहुत बड़ा षडयंत्र था जो उसी के विरुद्ध, उसी के शरीर के सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्से में चलना शुरू हो गया था।

षडयंत्र की प्रामाणिक सूचना मिल जाने और उसके जरूरत से कही अधिक चौकन्ना हो जाने के बाद भी, बचाव का उसके सामने कोई रास्ता नही था। वह केवल यही कर सकता था, जो कि वह कर भी रहा था, कि वह चौकन्ना हो जाय और बराबर चौकन्ना ही बना रहे। इसके अतिरिक्त उसके पास दूसरा विकल्प न था। उसने बहुत कोशिश

की, बहुत हाथ-पाँव पटके, लेकिन कुछ नहीं। कीड़ा था कि उसने रेंगना शुरू किया तो बढ़ने की अपनी अंतिम सीमा पर जाकर ही दम लिया। इसके बाद कुछ भी संभव नहीं था। उसने विरोध के अपने सारे तनाव को ढीला छोड़ दिया। उसकी स्थिति उस व्यक्ति की तरह थी, जिसे अपने विरोधी से अपने घर में ही समझौता करना पड़े।

उसने अपने मस्तिष्क की इस नवीन और शतशः विरोधी परिस्थिति से सामंजस्य बैठा लिया था। किसी से समझौते की पहली शर्त होती है कि विरोध के बावजूद एक-दूसरे को विरोधी नहीं कहा जा सकता। आप जानते हैं कि अमुक वस्तु आपके हितों के विपरीत है, पर आप उसी को कल्याणकारी, शुभ, प्रारब्धमय मानने के लिए बाध्य होते हैं। आप चाहते हुए भी स्थितियों के विपरीत नहीं जा सकते, स्थितियाँ आपके चाहे कितनी भी विपरीत हों। आप तैरना जानते हैं, लेकिन धार काटते हुए थक जाने पर आप धार के साथ ही तैरने को मजबूर हो जाते हैं।

उसके मस्तिष्क में कीड़े की उपस्थिति अब सहज हो आई थी। उसे एक कष्ट से छुटकारा मिल गया था। अपने मस्तिष्क की इस दुर्दान्त नियति को स्वीकार करने का कष्ट! अटके हुए ग्रास को गले से नीचे उतार लेने जैसा सुख, चाहे उसमें कोई जहरीली चीज ही क्यों न हो। उसे मालूम था कि कष्टों से उसे अब निजात नहीं है, बल्कि यह तो उनके लम्बे क्रम की शुरुआत है। ऐसे में एक छोटा-सा सुख भी छुटकारे का कम मीठा एहसास नहीं देता। उसी मिठास का स्वाद लेने के लिए ही उसने अपनी नियति से समझौता कर लिया था और अपने स्थाई सुख के सबसे बड़े शत्रु मस्तिष्क में पैदा हो चुके संदेह के कीड़े के सम्मुख हथियार डाल दिए थे। उसके सामने बचाव का कोई रास्ता नहीं था।

रेंगने वाला यह कीड़ा उसके मस्तिष्क के गर्भ में आ उसी दिन गया था, जिस रात उसने पहली बार अपनी पत्नी का घूँघट उघाड़ा था। एक अजब गुमसुम-सा, कान्ति-हीन चेहरा वहाँ था, जो कमरे के मद्धिम पीले प्रकाश में और भी पीतवर्ण मालूम देता था। उसका चेहरा स्वास्थ्य-

वर्धक टानिक के विज्ञापन में, टानिक के प्रयोग से पूर्व दिखलाए गये चेहरे सा दिखलाई देता था। यह काफी बाद की बात है। उस समय ऐसी समझ होना अपवाद ही कहा जायेगा। वह हर दृष्टि से एक सामान्य व्यक्ति ही था।

हर दूसरे व्यक्ति की तरह उसने भी उस रात जल्दी ही बत्ती बन्द कर दी थी और पत्नी के चेहरे पर बहुत देर तक गौर नहीं किया था। उसके बाद, काफी समय तक पत्नी को उसने उस पहली रात के अँधेरे के संदर्भ में ही देखा था। यूँ, एक नजर में उसे अपनी पत्नी अच्छी लगी थी।

उस एक नजर का प्रभाव तब तक बरकरार रहा था, जब तक कि उसका संदर्भ भी एक ही रहा था। जैसे-जैसे पत्नी और उसके सम्बन्धों का संदर्भ बदलने लगा, वैसे ही उसकी पहली नजर भी उसके जेहन में धुँधली पड़ती चली गई। इस धुँधलके में कारण परिवर्तित संदर्भ ही रहा हो, ऐसा भी नहीं था। इसके लिए कहीं उसकी पत्नी भी दोषी थी।

उसे पत्नी से कोई शिकायत नहीं थी, बल्कि कहिए कि उसे पत्नी से प्यार था। पत्नी उसे पहली नजर में ही पसंद आई थी और अक्सर पहली पसंद ही उसकी आखिरी पसंद भी होती है। उसने अपनी इस पसंद का इजहार वक्त-बेवक्त न करके, अपने समस्त व्यवहार में ही बड़ी सहजता के साथ किया था। ऐसा भी नहीं था कि ऐसा करना महज अपना उसने एक दायित्व समझा हो। सच तो यह है कि वह अपने व्यवहार में समुद्र की गहराई तक सच और पहाड़ की ऊँचाई तक ईमानदार रहा था और आज भी शायद मन के मूलभूत कोने में ठीक वैसा ही हो। बस, देखने वाली एक दृष्टि-भर चाहिए, जिसने अपने खुद के हृदय को गहराइयों में झाँक कर कभी देखा हो।

हरेक नौजवान की तरह उसके भी हृदय का एक कोना अपने माँ-बाप की तरफ से खाली रह गया था, जिसे उसने बहुत स्वाभाविक रूप से पत्नी के प्रेममय सान्निध्य से भरना चाहा था। उसकी ऐसी चाहना

कोई अतिरेक न थी। उसने जो कुछ चाहा था, पहले उसने पत्नी को दिया था। उसने ऐसी कोई दुर्लभ वस्तु भी नही माँगी थी, जिसे देना पत्नी के लिए असंभव हो। उसने अपना हक समझ कर अपनी इच्छा भी उस पर लादी नही थी। उसने तो दोनों के अचानक हो गये साथ को मात्र सार्थकता प्रदान करनी चाही थी। सान्निध्य को उसने प्रेममय बनाना चाहा था। उसने दोनो को एक ही रोग का मरीज समझ कर एक ही इलाज सुझाया था। उसने जो कुछ किया था, बराबरी के दर्जे पर। न उसने अपने को पति समझा था, न उसे पत्नी। उसने तो दोनों को एक ही सफर का साथी माना था, जिनकी मंजिल भिन्न भी हो सकती है।

पत्नी दूसरे ही हाड़ की बनी थी। उसके लिए सान्निध्य, प्यार, साथी, सफर सारे शब्द बेमानी थे। उसने जो कुछ भी सोचा था, पत्नी का व्यवहार उससे बिलकुल उल्टा था। वास्तव में, पत्नी का कोई व्यवहार ही नही था। उसने पत्नी से कुछ लेना नही चाहा था, जो कुछ उसने चाहा था वह पत्नी को देना ही। उसे लगा था कि पत्नी देना तो दूर, उससे कुछ लेना भी नहीं चाहती है। उसके लिए प्यार और उसके पर्यायवाची बेमानी ही नही, अस्तित्वहीन हैं।

उसके दिमाग में उस रेंगने वाले कीड़े का जन्म हो गया था, जिससे बचाव के लिए उसने क्या नही किया था? उस अशुभ को टालने के लिए उसने अपनी सारी शक्ति खर्च दी थी, लेकिन कुछ भी अनुकूल होने के बजाय, सब कुछ उसके विपरीत ही होता गया था। पत्नी ने उसे जानवर और स्वार्थी समझा था और उसके ऊपर हर ओर से थोप दी गई थी—मौत का सासारिक रूप—कुण्ठा की काली कमली, जिसके नीचे घुट-घुट कर उसका सारा अस्तित्व ही विला गया है।

पत्नी की ठण्डक काट देने वाली थी, लट्ठे काटने वाले आरे के समान, बीचोबीच से। बेडरूम हो या किचन, पत्नी का तटस्थता भारी चट्टान की मानिंद अटल थी। पत्नी उसे पत्थर की किसी मूरत-सी लगती, जिसे पूजने के लिए जबरन मंदिर में स्थापित कर दिया गया हो। शुरू में,

पत्नी की तटस्थता का यही जबरन वाला कारण उसे सही मालूम दिया था और उसने सोचा था कि धीरे-धीरे सब ठीक हो जायेगा।

लम्बे अंतराल के बाद भी मूरत मूरत ही बनी रही थी, पुजारी को दोष देती हुई-सी। इसमें पुजारी का क्या दोष? जैसे मूरत बाध्य थी, वैसे ही पुजारी। पुजारी तो बेचारा अपने प्रयत्नों के प्रति पूरी तरह ईमानदार था। उसने तो अपनी आराधना में कोई कसर न उठा रखी थी। वह तो मूरत थी जो मूरत ही बनी रहना चाहती थी। उसे पुजारी की दीनता पर जरा भी तरस नहीं आया था। उसने उसकी पूजा को कभी भी स्वीकार नहीं किया था। सदैव निरपेक्ष और कुपित भाव से आपूरित अपने स्थान पर अडिग खड़ी रही थी। पुजारी का विश्वास डगमगा गया था। उसे लगा था जो उसकी आस्था के प्रति विश्वस्त नहीं है, वह अपने प्रति कैसे ईमानदार हो सकता है?

उसे पत्नी की निरपेक्षता पर शक हो आया था। उसे लगा था कि मूल में कुछ और ही है, जिसके ऊपर यह निरपेक्षता का ढोंग बड़ी खूबसूरती से परदा डाले हुए है। उसने इस ढोंग के खिलाफ मोर्चा खड़ा करने का फैसला कर लिया था। वह दूसरे के प्रति ईमानदार है तो दूसरे को उसके प्रति भी आवश्यक ईमानदारी बरतनी होगी। समझौता सदैव द्विपक्षीय होता है। दूसरा पक्ष यदि एक भी शर्त मानने को तैयार नहीं तो काहे का समझौता, काहे का साथ। ऊपर से दिखाते हुए भी, वह अंदर ही अंदर इस समझौते की कमर तोड़ देगा। कष्ट जो तब होगा, वह आज भी है। वही क्यों एक अनुपस्थित, अज्ञात और अमूर्त चीज को पकड़े रहने का बहाना करके अपने निर्विकार मन को अंधेरे में रखे रहे? ऐसा संभव भी कब तक है···?

कीड़े ने पूर्व दृढ़ता के साथ उसके दिमाग के ठीक बीचोबीच अपने पैर जमा लिए थे।

पत्नी को किसी बात से कोई मतलब नहीं था। वह काम करती, जैसे किसी खिलौने में चाभी भर दी गई हो। वह बोलती, जैसे शब्दों का

उसका बहुमूल्य भण्डार खाली हो रहा हो। कोई गिला नहीं, कोई शिकवा नहीं, कोई माग नहीं, कोई मुराद नहीं। पत्नी अपनी तरफ से कभी कुछ न कहती। कोई उससे कुछ कहता तो समर्थन में अपना सिर हिला देती, ऐसा समर्थन, जिसका कोई अर्थ नहीं होता है, जो मृत होता है।

मां-बाप पत्नी की सरलता और शालीनता के कायल थे। वे पत्नी पर अपने जिगर के टुकड़े की तरह निहाल थे। वे कभी उसे गुड़िया की उपाधि देते तो कभी गऊ का विशेषण। उन्हें उसकी प्रशसा में शब्द नहीं मिलते। ऐसे समय वे केवल अपनी चांद-सी बहू का मुंह निहारते रहते। उनके लिए तो जैसे उनकी मृत बेटी सीधे आकाश से उतर कर घर पर आ गई हो। उन्हें आज कोई दुख, कोई चिंता नहीं थी। उनका जीवन स्वारथ हो गया था ऐसी बहू को पाकर, जो उनकी बहू ही न थी, उनकी बेटी भी थी।

मां-बाप को उनकी बेटी मिल गई थी, लेकिन उसे पत्नी के रूप में अपना साथी नहीं मिला था। यूं, पत्नी उसका साथ देती थी, लेकिन केवल साथ देने के लिए। एक अंतरंग साथी की तरह बिल्कुल भी नहीं। वह चाहता था कि कभी उसे भी पत्नी का साथ देना पड़े। कभी पत्नी भी उससे साथ देने के लिए आग्रह करे। पत्नी उसके सामने भी ऐसा कोई प्रस्ताव रखे जिससे उसे महसूसे कि पत्नी भी उसका साथ चाहती है। पत्नी थी कि खण्डहरनुमा बड़े खाली मकान का मुतहा सन्नाटा, जिसके पास जाने से केवल भय की ही अनुभूति हो सकती है।

पत्नी की आखें सदा शून्य में झांकती-सी लगती। क्या उसकी आंखें भी शून्य है? क्या इसे कुछ दिखाई नहीं देता? क्या उसे कोई बात छूती नहीं? क्या वह कोई योगी है, जिसने सुख-दुःख को अपने अंदर साध लिया है?

'लो कलाकंद।' खाना खा चुकने के बाद वह चुपके से अपने पास रखा दोना पत्नी के आगे कर देता है।

'कलाकंद?' पत्नी की आवाज में कोई उत्साह नहीं है।

'हूँ। तुम्हारे लिए लाया हूँ।' वह पत्नी की आँखों में देखता है।

'पेट भर गया है।' पत्नी चटाई पर से उठ खड़ी होती है।

'क्यों, तुम्हें तो कलाकंद पसंद है? सुनते हैं कलाकंद के बिना तुम्हें नींद नहीं आती थी। किसी दिन अगर बिना कलाकंद खाये जल्दी सो जाती थी तो रात में उठ कर चीखने-चिल्लाने लगती थी। तुम्हारे भैया उसी वक्त तुम्हारे लिए कलाकंद लेने दौड़ते थे।' वह एक साँस में कह जाता है।

'पेट भर गया है।'

'तो जरा-सा खाने में क्या हर्ज है? तुम्हें तो पसंद है।'

'जब था, तब था, अब तो...।' पत्नी हाथ धोकर कमरे के बाहर जा चुकी होती है। उसका जी चाहता है कि वह चीख कर पूछे कि आखिर अब ऐसा क्या हो गया है जो उसके कहने से जरा-सा कलाकंद भी उसके गले के नीचे नहीं उतरेगा? वह चुप रह जाता है। कहने-सुनने से फायदा? नहीं खाया तो नहीं सही, अच्छा ही तो है। फिर पेट भी तो भर गया है...।

वह कलाकंद के दोनें की ओर बगैर एक बार भी देखे कमरे से बाहर निकल जाता है।

कमरे में पत्नी सो चुकी होगी या कोई किताब पढ़ रही होगी। किताब भी होगी कोई नोबेल-पुरस्कार से विभूषित या कोई कहानी-वहानी की किताब, जिसमें साली लौंडियाबाजी...रानी जी एम० ए० हैं न। बहुत गरूर है इन्हें अपने एम०ए० का, जैसे हिन्दुस्तान की पहली महिला एम० ए० यही हों।

'सुनिए।'

'सुनाइए।' उसने करवट फेरे ही कहा।

'यह चिट्ठी आई है।'

'चिट्ठी।' वह ठण्डा है।

'हाँ, शाहबाद से।'

'तो मैं क्या करूँ।' उसे झुँझलाहट हो आई है।

'नीरू की शादी है, बुलाया है।'

'चली जाओ, मुझसे क्या पूछती हो।'

'आप तो हर समय गुस्सा होते रहते हैं।' पत्नी नखरों पर उतर आई है। वह कोई जवाब नहीं देता। वह जानता है पत्नी इस तरह से एक गलत चीज को सही दिखा कर उसका भरपूर फायदा उठाना चाहती है। पत्नी अभी कुछ दिन पहले ही एक माह मायके रह कर आई है,तब शायद उसके किसी भांजे-भांजी को वर्थ-डे थी।

'आपके लिए भी लिखा है।'

'बोलते क्यों नहीं ?'

'परेशान न करो। सोने दो।'

पत्नी चुप रह जाती है।—'हूँ, आपके लिए भी लिखा है।' भी लिखा है। लिखा ही तो है बुलाया तो नहीं। बुलाया भी होगा तो वह कब चाहेगी कि मैं भी इसके साथ जाऊँ ? यह तो वहाँ जाकर अपने यारों के साथ गुलछर्रे करेगी। इसे यहाँ की क्या फिकर है। इसे तो कोई-न-कोई बहाना चाहिए यहाँ से भागने के लिए।' कीड़ा उसके दिमाग में तेजी से रेंगने लगा है।

पत्नी मायके से लौट आई थी।

वह आफिस से लौट कर आया है और खुश है। लौटते हुए पाकीजा के दो टिकट भी साथ ही लेता आया है। चाय की चुस्की लेते हुए पत्नी को उसने खुशखबरी देनी चाही—

'पिक्चर चलोगी आज ?'

'पिक्चर ?' पत्नी ने मूर्खों-सा उसकी ओर मुँह उठा कर देखते हुए कहा।

'हाँ, कल इतवार है। कल दिन-भर आराम करेंगे।'

पत्नी ने अपना सिर झुका लिया था।

'क्यों ? पाकीजा है। मीनाकुमारी की आखिरी पिक्चर है।'

'पिक्चर।' पत्नी को इस सबसे जैसे कोई मतलब नहीं था। वह कहीं खोयी हुई-सी थी।

'हाँ-हाँ, पिक्चर। तुम तो ऐसे चौंक रही हो कि…।'

'आज सिर मे दर्द है।' पत्नी ने उसकी आवाज की तलखी को समान स्तर पर काट दिया था। पीते-पीते ही प्याले की चाय अचानक उसे बहुत ठण्डी लगी थी। उसका जी चाहा था कि सारी चाय वह पत्नी के चेहरे पर ही उलट दे। चाय की गर्माहट से ही शायद उसमे कुछ चेतना आ जाय।

उसने टिकट खरीद चुकने की बात पत्नी को अभी तक नहीं बताई थी। जेब में कागज के उन्हीं टुकड़ों ने बात को आगे बढ़ाया था, लेकिन बात उसने फिर बदल दी थी।

'चलो चलो न। आज मन है।' उसने स्वर को जरूरत से ज्यादा नरम कर लिया था, शायद अंदर की आग पर तपा कर ही।

पत्नी मायके किसी को चिट्ठी लिख रही थी। उसने स्वर की अपरिचितता से घबड़ा कर उसकी ओर देखा। वह पत्नी की ओर ही देख रहा था। दोनों की निगाहें आपस मे टकरा गईं।

'तुम कहते हो तो चली चलूँगी।' उसे लगा पत्नी घबड़ा कर कह गई है।

'रहने दो। तुम्हारे सिर मे दर्द है।' वह अभी भी पत्नी के चेहरे की ओर देख रहा था।

'नहीं, चली चलूँगी।' पत्नी की आवाज कहीं दूर से आती जान पड़ी।

कमरे से बाहर आकर जेब में पड़े दो कागज के टुकड़ों को उसने चिंदी-चिंदी कर हवा मे उछाल दिया था। 'स्साली…।' उसके मुँह से गाली निकल गई थी—'शाहवाद मे तीन-तीन पिक्चरें देख कर आई है। पड़ोस के मकान से वह लौंडा आता है—साला, नानी का देवर—उससे बैठ कर किस्से सुनाती है।'

'रास्ते में, अपनी बहन के यहाँ रुक कर भी एक पिक्चर देख कर आई है। जब भी मायके जाती है, बीच में अपनी बहन के यहाँ जरूर रुकती है। बहन के यहाँ उसका जवान लौंडा जो है बतियाने के लिए साला···अपने को बहुत काबिल समझता है। बी०एस०सी० थर्ड क्लास है और तैयारी करता है बैठने की आई०ए०एस० में।'

तेजी से रेंगते कीड़े ने अपने जहरीले डंक चुभो दिए थे। वह चीत्कार कर उठा।

पत्नी खाट पर लेटी हुई है। उनके पेट में मीठा-मीठा दर्द उठा है। माँ आकर देख गई है। पिताजी डाक्टरनी को बुलाने गये है। माँ ने पेट पर हाथ फिराते हुए कहा था—'ऐ, इतना कड़ा। कहीं बच्चा तो नहीं···।'

'बच्चा ?' वह भीतर-ही-भीतर चौकन्ना हो गया था—'कैसा बच्चा ? किसका बच्चा ?' उसके अपने पेट में खलबली मच गई थी। उसने खाट पर आराम से लेटी अपनी पत्नी की ओर देखा था। पत्नी का चेहरा भावहीन था। माँ पिताजी को अपनी संभावना की खबर करने चली गई थी।

बच्चा—किसका बच्चा, उसका या पत्नी का अपना व्यक्तिगत ? इतने सालों बाद उसका कहा जाने वाला बच्चा आयेगा··· ह-हः—। वह मन-ही मन खूब हँसा था।

'चलो, अच्छा ही हुआ। रोज-रोज की परेशानी से तो जान छूटेगी। कोई तो होगा उसके बचाव के लिए। मुहल्ले-भर के लौंडे-लफाड़े तो नहीं कहा करेंगे—भाई साहब, भाभी जी को हमारे यहाँ ही भेज दिया कीजिए। क्या उन्हें घर में अकेली सड़ा-सड़ा कर मार डालेंगे ?' उसने अपने दुखी मन को दिलासा दी थी :—'चलो, वह अपने को मार कर उसे तो जिंदा रख सकेगा। कोई कुछ कह तो नहीं सकेगा। पत्नी भी बार-बार मायके जाने के बहाने नहीं निकल सकेगी।' उसे लगा बहुत दिन से उथल-पुथल मचाता कीड़ा अचानक घायल हो गया है।

डाक्टरनी आ गई थी। डाक्टरनी के आ जाने के बाद उसे अपने मन

को झूठी दिलासा देने को नहीं रह गई थी। अलबत्ता, माँ-बाप को जरूर अपनी बेटी के स्वास्थ्य का खतरा बड़ी तीव्रता के साथ महसूस हुआ था। माँ अपनी रुलाई पर काबू नहीं कर पाई थी। पिताजी भी आँखें पोंछते हुए और भाग्य के फेर की दुहाई देते हुए जल्दी ही कमरे से बाहर हो गये थे।

कमरे में उसकी खुशी को बाटने वाला कोई दूसरा नहीं था। बहुत दिनों से अमानवीय कष्ट देता, थोड़ी देर पहले घायल हो गया कीड़ा उसके दिमाग में अब मृत हो चुका था। उसके दिमाग में डाक्टरनी के धीमे, किन्तु मुक्तिदायक, ऋणदायक शब्द अभी-भी गूँज रहे थे, जैसे कोई खूबसूरत घाटी के बीचोबीच खड़े होकर प्रसन्नता से चीखे और उसकी आवाज घाटी के हर कोने से बार-बार उस तक लौट-लौट आये। वह खुशी से पागल होता हुआ फिर चीखे और फिर...।

—'बहन जी, इनके पेट में बहुत बड़ा ट्यूमर है। इन्हें फौरन अस्पताल में भरती कराइए। हो सकता है यह अभी-भी बच जाये।' मैं तो यही कहूँगी कि यह बच जायेगी, लेकिन इतना अभी से कहे देती हूँ कि ट्यूमर इतना बड़ा है और उसकी जड़ें पेट में चारों-ओर इतनी गहरी है कि उसके साथ ही इनकी बच्चेदानी भी निकालनी पड़ेगी। अब यह कभी माँ नहीं बन सकेगी...यह कभी... यह कभी।' और डाक्टरनी के ये शब्द उसके कानों में बार-बार प्रतिध्वनित होकर उसकी चेतना से टकराते रहे थे। उसे महसूस हुआ था, जैसे उसे अपने प्राणहर कष्ट से एकबारगी ही निजात मिल गई हो।

वह मन-ही-मन मुस्कराता हुआ कमरे में लौट आया था। उसे अस्पताल के लिए तैयारी भी तो करनी थी।

राजेन्द्र कुमार मेहरोत्रा : जन्म १५ दिसम्बर १९४२ । शिक्षा एम० ए० । आपने अभी तक आठ-दस कहानियाँ ही लिखी हैं, परन्तु वे ध्यान खींचती हैं । आपने बच्चों के लिये भी कहानियाँ लिखी हैं । दो बाल उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं । सम्प्रति यूनाइटेड बैंक आफ इंडिया से सम्बद्ध, और 'प्रतिमान' के सम्पादक ।

पलायन

माया शंकर घर के लिए रिक्शे में बैठे तो बहुत थके-थके महसूस कर रहे थे । राम प्रसाद के यहाँ से चलते हुए उनमें जो जोश था, वह रेल के तीन घण्टे के सफर में ठण्डा पड़ चुका था । यों मौसम अभी गर्म ही था, और दिन की धूप में तो भरे जाड़ों में भी कंपकंपी नहीं आती । पर माया शंकर को सितम्बर के तीसरे सप्ताह में ही इस समय सिहरन-सी महसूस हो रही थी । उन्हें लग रहा था, उन्होंने अपने सामने एक बहुत विशाल और कठोर पत्थर खड़ा कर लिया है जिसे तोड़ते-तोड़ते अब वह पस्त पड़ गए थे । हर बार के साथ वह हृदय में नया उत्साह भरते और सोचते, इस बार अवश्य उनकी फतह होगी, इस बार वह अवश्य विजयी होंगे, इस बार अवश्य वह पत्थर टूट जाएगा । पर हर बार उनका वार मात्र 'खट' की आवाज ही कर पाता, और कुछ नहीं । रिक्शे वाले को उन्होंने बैठते ही समझा दिया था कि बेटा, मजे-मजे चलना । उन्हें कोई जल्दी नहीं है । इससे चलाने वाला भी थकता नहीं और सवारी भी पूरी तरह सुरक्षित पहुँच जाती है । पर उन्हें बाद में सूझा था, कहीं वह घर पहुँचने से कतराना तो नहीं चाहते हैं ?

और उनके सामने नूपुर का मायूस चेहरा तैर गया था । क्या जवाब देंगे वह ? उनके पास जवाब देने को है ही क्या ? पर वह कम्बख्त कुछ पूछेगी ही नहीं । बस, चुपके से, आड़ में से झाँक-सुनकर शांत हो लेगी ।

उन्हें अचानक नूपुर के दब्बूपन पर बहुत गुस्सा आया। वह चाहते थे, नूपुर उनके घर में घुसते ही कोहराम मचा दे। जितना भला-बुरा कह सकती हो, उन्हें, उनके धर्म और समाज को, कह ले, जिससे उनका कुछ तो बोझ हल्का हो जाए। पर वह तो ठहरी ठेठ घरेलू लड़की। ममी से भी उतनी ही बात करेगी जितनी जरूरत हो। पापा से तो बिना जरूरत बोलना भी गुनाह। ममी ने उसकी यही तो सिखाया है उसे।

लेकिन क्या सब कुछ मुँह से ही कहा जाता है? आँखें और चेहरा कुछ नहीं कहता? माया शंकर को महसूस हुआ, नूपुर की आँखों और चेहरे की मार शायद शब्दों की मार से भी नुकीली है।

सुदीप और नूपुर का साथ चंद दिनों का नहीं था। नूपुर सुदीप के साथ बचपन से पढ़ी और खेली है। सुदीप स्वस्थ, आकर्षक और बातचीत का लुभावना तो है ही, पढ़-लिखकर उसने बहुत अच्छी जगह भी पा ली है। ऐसी स्थिति में नूपुर के हृदय का दर्द कौन नहीं जान सकता! सुदीप को भी कम धक्का नहीं लगा। शायद उसने कभी यह सोचा भी नहीं होगा। और नूपुर ने ही कब सोचा होगा? कितने चाव के साथ वह सुदीप की एक-एक बात सबको सुनाती थी। और जब से शांता ने नूपुर को डाँट दिया, नूपुर के मुँह से सुदीप शब्द तक उन्होंने नहीं सुना। माया शंकर को लगा, कभी-कभी मनुष्य के संस्कार भी उसके पैरों में बेड़ियाँ डाल देते हैं। अगर नूपुर सुदीप के साथ कहीं चली जाती? वह सोचकर ही दहल जाते हैं। कितने तो किस्से होते रहते हैं रोज। आखिर नूपुर और सुदीप पढ़े-लिखे हैं, वयस्क हैं, क्या वे कोर्ट में जाकर शादी नहीं कर सकते? माया शंकर ने माथे का पसीना पोंछ कर सामने मंदिर की ओर सादर हाथ जोड़ कर सिर झुका दिया।

सुबह के नौ बज कर पच्चीस मिनट होने को थे। माया शंकर अब भी सोच रहे थे, वह नूपुर का सामना कैसे करेंगे? यों नूपुर उनकी अपनी लड़की है जिसे उन्होंने गोद में लेकर खिलाया है, प्यार किया है और गलती करने पर डाँटा भी है। पर वही नूपुर आज उनके लिए भय

का कारण बनी हुई थी। उनका मस्तिष्क जैसे फ्यूज हो गया था। वह कुछ निर्णय नहीं ले पा रहे थे। रिक्शा तेजी से आगे बढ़ता जा रहा था।

मोड़ के पास पहुँच कर माया शंकर ने रिक्शे वाले की पीठ पर हाथ रख कर उसे रोक लिया। फिर घड़ी पर नजर डाल कर प्लानिंग आफिस चलने के लिए बोल दिया। हालांकि उन्हें अच्छी तरह याद था कि आज वह छुट्टी पर है। कि यह दो दिन की छुट्टी लेने में उन्हें अपने साहब से बहुत हील-हुज्जत करनी पड़ी थी। उन्होंने सोचा था कि वह इस बार साहब को अपने साहस का परिचय अवश्य देंगे। अपनी कैजुअल को बढ़ा कर अर्नड में बदलेंगे।

रिक्शा जब मुड़कर आगे बढ़ आया तो माया शंकर को बहुत राहत मिली। नूपुर से तो वह चंद घण्टों के लिए छुट्टी पा ही गए। एक की छुट्टी कैंसिल करा कर उन्हें अपने साहब को भी 'बात का पक्का हूँ,' यह दिखलाने का अवसर मिल गया। जोश में उन्होंने अपनी कमर सीधी की किन्तु उनकी कमर अधिक देर तक सीधी न रह सकी। क्या फायदा? यह बड़े लोग तो सब ऐसे ही होते हैं—लकीर के फकीर। इनमें अपना कोई दिमाग नहीं। चाहे 'बॉस' हो या पुरोहित या जाति का बूढ़ा गण-मान्य। बताओ भला, हर बात की कहीं पहले से खबर रहती है? अरे, नूपुर के रिश्ते के लिए चिट्ठी आई और उन्हें जाना पड़ गया। लेकिन नहीं साहब, घर पर कोई मरे, तब भी अर्नड लीव तभी मिलेगी जब एक महीना पहले एप्लाई कर रखा हो। और वह चिढ़ी का गुलाम पुरोहित और वह साला राधेलाल बजाज।

'दूसरी जाति में लड़की देकर क्या धर्म भ्रष्ट करोगे? कन्या है, यदि उसका उचित जगह दान नहीं करोगे तो उऋण कैसे होगे? पाप सिर लेने की बुद्धि पता नहीं कैसे तुममें आ गई? ऐसा तो सोचना भी अधर्म है।'' गोस्वामी जी ने रामचरित मानस में ठीक ही कहा है,—जाको प्रभु दारुण दुख दीन्हा; ताकी मति पहिले हरि लीन्हा,' राम-राम, राम-राम। सर्वनाश की निशानी।'' पुरोहित जमुना प्रसाद ने अपनी दाढ़ी

खुजलाते हुए पत्रा खोल लिया था और किसी नए जन्मे शिशु का जन्म-पत्र बनाने लगे थे। माया शंकर उठ कर चले आए थे। उनका मुंह मिल गया था।

राधेलाल बजाज ने तो उन्हें बुरी तरह लताड़ दिया था, 'क्या तुम्हारी अपनी जाति के सब लड़के मर गए या नपुंसक हैं जो तुम्हें कोई लड़का ही अपनी लड़ैती के लिए नहीं मिला ? अरे, पढ़ते-लिखते तो सभी के बच्चे हैं, तुम्हारी लड़की कोई विलायत से तो पढ़ कर आई नहीं जो उसे कोई अँग्रेज चाहिए।' फिर हुक्के पर कश खींचते हुए बोले थे, 'जाओ जरा अकल से काम लो। लड़की की जात को इतना सिर चढ़ाओगे तो तुम्हारा तो सत्यानाश करेगी ही, जिसके घर जाएगी, उसके भी करम फोड़ेगी।' माया शंकर दांत पीस कर रह गए थे। राधेलाल बजाज विरादरी के बुजुर्ग है और उनकी बिना सलाह के विरादरी में कोई काम नहीं होता। वह गए थे सोच कर कि राधेलाल 'हाँ' कर देंगे तो सब कुछ सुलझ जाएगा। पर···

माया शंकर ने राधे लाल के अहाते से निकल कर एक गंदी गाली दी थी। फिर पान वाले की दुकान पर बैठ कर घण्टों विरादरी भर की चर्चा करते रहे थे। 'बुलाकी राम की लड़की भाग गई तो विरादरी की नाक नहीं कटी। केशव दास की लड़की शादी-शुदा आदमी के साथ बिना फेरे लिए रह रही है तो राधेलाल की विरादरी की टोपी नहीं उछली। राम किशन का लड़का गैर विरादरी की औरत घर में रखे हुए है, उससे कोई कुछ नहीं कहता।'

उन्होंने पेट में ईंट लगा कर सब कुछ स्वीकार कर लिया था और पत्नी को समझा दिया था, 'नूपुर से कह दो, चिन्ता न करे। मैं उसके लिए सुदीप से अच्छा और पढ़ा-लिखा लड़का ढूंढ कर दूंगा।'

माता ने भी बेटी का दर्द समझा था और उसे दिलासा दिया था।

रिक्शा ऑफिस के अहाते से होता हुआ पोर्टिको में रुका तो वहाँ साहब की जीप को न पाकर माया शंकर को अच्छा लगा। उन्होंने रिक्शे

वाले को पैसे दिए और फुर्ती से ऊपर चढ़ गए।

यों माया शंकर ऑफिस तो पहुँच गए थे, पर केवल शरीर से। मन उनका अपने घर ही था। उनकी आँखों के आगे निरन्तर नूपुर का चेहरा उतराता रहा था, पराजित, मुरझाया हुआ और कांतिहीन। उन्हें लग रहा था कि नूपुर उनके घर न पहुँचने से समझ गई है कि काम बना नहीं और पापा इसीलिए बिना इत्तिला दिए ऑफिस चले गए हैं। बेचारी नूपुर! उनकी आँखें अचानक छलछला आईं। उसका गुमसुम चेहरा और गुमसुम हो जाएगा, उन्होंने सोचा। कितनी आशा थी सबको। सब सोच रहे थे, चलो देर से ही सही, सही जगह बातचीत पक्की होने जा रही है। पर राम प्रसाद तो दूसरों से भी एक हाथ ऊपर निकले। वह जैसे अपने लड़के का सौदा ही करने पर तुले हुए थे। 'देखो भाई शर्मा जी, मैं साफ आदमी हूँ और स्पष्ट बात पसन्द करता हूँ।' राम प्रसाद ने अपने सफेद कुर्ते को बाहों पर थोड़ा ऊपर चढ़ा कर बाहें मेज से टिका ली थी। 'मैंने रमेश पर पन्द्रह हजार खर्च किए हैं। तुम जानते हो, आजकल गिरानी में किसके पास इतनी समाई है जो अपने सारे बच्चों को इंजीनियर-डाक्टरी पढ़ा सके। किसी तरह इस-उससे ले-दे कर रमेश को पढाया है। फिर अभी सुरेश, उमेश, दिनेश की पढ़ाई भी चल ही रही है। दीपा, मीना भी बड़ी हो रही हैं।'

'कमीना!' माया शकर ने रफ पैड की लाइनों को आड़ी-तिरछी रेखाओं से काटना शुरू कर दिया। 'पत्र तो बड़े मीठे-मीठे लिखता था। लगता था जैसे मेरी लड़की से ही रिश्ता करने का निश्चय कर लिया है।···साला, मुझे घर का पूरा हिसाब बताता था। लड़की भले ही क्वाँरी रहे, पर ऐसे नीच लोगों के घर कभी नहीं दूँगा।' माया-शकर आवेश में सोचते गए। पर नूपुर की बुझी हुई आँखों की याद आते ही ढीले पड़ गए। 'बहुत से लड़के मिलेंगे। अरे, हजार-बारह सौ वाला लड़का नहीं मिलेगा तो चार-पाँच सौ वाला तो मिलेगा ही।' उन्होंने सामने खुली रखी फाइल को बन्द करके अलमारी में रख दिया और ताला

लगा कर उठ खड़े हुए। डेढ़ से दो बजे तक लंच होता है। यों माया शंकर काम की अधिकता से कभी लंच में उठ कर बाहर नही जाते पर आज उन्होने निश्चय किया कि वह अपने लंच टाईम का पूरा-पूरा उपयोग करेंगे।

बाहर निकलते हुए उन्होंने अपने पुराने साथी केशव राम को साथ ले लिया और जाकर सामने सिन्धी-होटल में कोने की सीट पर बैठ गए। 'कहो भई केशवराम, कैसे हाल चाल है ?' उन्होंने दो चाय और बिस्कुटों का आर्डर देते हुए केशव राम से पूछा।

'ठीक हूँ, गुरू। अपनी कहो।' केशव राम ने मेज पर कुहनियाँ टिकाते हुए कहा।

'आज तुम कुछ सुस्त से नजर आ रहे हो। क्या बात है ?' माया शंकर ने हर समय मस्त रहने वाले केशव राम को उदास देखा तो पूछा।

'कुछ नही यार, यह छोटे साहब बहुत परेशान करते हैं। और यह बाड़-मेले इतना काम बढा देते हैं कि कुछ पूछो नही।'

'अरे यार छोड़ो दफ्तर का यह चक्कर। यह लंच टाइम है। और कुछ सुनाओ।'

'क्या सुनाऊँ ?' केशव राम ने पानी का गिलास उठाते हुए कहा और फिर माया शंकर से पूछने लगा, 'क्या आज लालजी के यहाँ जाओगे ?'

माया शंकर को याद आया, आज दफ्तर के लाल जी टण्डन के लड़के का शगुन है। 'हाँ, जरूर जाऊँगा। बेचारे का एक ही तो लड़का है। हम ही लोग नही पहुँचेंगे तो कौन जाएगा।'

'यार, दूर बहुत है। दो रुपये तो रिक्शे वाला ही ले जाएगा।' केशव राम ने मुँह बिगाड़ते हुए कहा।

'चलो, कोई बात नहीं। कौन रोज-रोज यह अवसर आता है।' माया शंकर ने कहा और फिर पूछने लगे, 'क्यों न हम लोग साथ-साथ ऑफिस से ही चले चलें।'

वाले को पैसे दिए और फुर्ती से ऊपर चढ़ गए।

यों माया शंकर ऑफिस तो पहुँच गए थे, पर केवल शरीर से। मन उनका अपने घर ही था। उनकी आँखों के आगे निरन्तर नूपुर का चेहरा उतराता रहा था, पराजित, मुरझाया हुआ और कांतिहीन। उन्हें लग रहा था कि नूपुर उनके घर न पहुँचने से समझ गई है कि काम बना नहीं और पापा इसीलिए बिना इत्तिला दिए ऑफिस चले गए हैं। बेचारी नूपुर! उनकी आँखें अचानक छलछला आईं। उसका गुमसुम चेहरा और गुमसुम हो जाएगा, उन्होंने सोचा। कितनी आशा थी सबको। सब सोच रहे थे, चलो देर से ही सही, सही जगह बातचीत पक्की होने जा रही है। पर राम प्रसाद तो दूसरों से भी एक हाथ ऊपर निकले। वह जैसे अपने लड़के का सौदा ही करने पर तुले हुए थे। 'देखो भाई शर्मा जी, मैं साफ आदमी हूँ और स्पष्ट बात पसन्द करता हूँ।' राम प्रसाद ने अपने सफेद कुर्ते को बाहों पर थोड़ा ऊपर चढ़ा कर बाहें मेज से टिका ली थी। 'मैंने रमेश पर पन्द्रह हजार खर्च किए हैं। तुम जानते हो, आजकल गिरानी में किसके पास इतनी समाई है जो अपने सारे बच्चों को इंजीनियर-डाक्टरी पढा सके। किसी तरह इस-उससे ले-दे कर रमेश को पढ़ाया है। फिर अभी सुरेश, उमेश, दिनेश की पढाई भी चल ही रही है। दीपा, मीना भी बड़ी हो रही हैं।'

'कमीना!' माया शंकर ने रफ पैड की लाइनों को आड़ी-तिरछी रेखाओं से काटना शुरू कर दिया। 'पत्र तो बड़े मीठे-मीठे लिखता था। लगता था जैसे मेरी लड़की से ही रिश्ता करने का निश्चय कर लिया है।···साला, मुझे घर का पूरा हिसाब बताता था। लड़की भले ही क्वाँरी रहे, पर ऐसे नीच लोगों के घर कभी नहीं दूँगा।' माया-शंकर आवेश में सोचते गए। पर नूपुर की बुझी हुई आंखों की याद आते ही ढीले पड़ गए। 'बहुत से लड़के मिलेंगे। अरे, हजार-बारह सौ वाला लड़का नहीं मिलेगा तो चार-पाँच सौ वाला तो मिलेगा ही।' उन्होंने सामने खुली रखी फाइल को बन्द करके अलमारी में रख दिया और ताला

लगा कर उठ खड़े हुए। डेढ़ से दो बजे तक लंच होता है। यों माया शंकर काम की अधिकता से कभी लंच में उठ कर बाहर नहीं जाते पर आज उन्होंने निश्चय किया कि वह अपने लंच टाईम का पूरा-पूरा उपयोग करेंगे।

बाहर निकलते हुए उन्होंने अपने पुराने साथी केशव राम को साथ ले लिया और जाकर सामने सिन्धी-होटल में कोने की सीट पर बैठ गए। 'कहो भई केशवराम, कैसे हाल चाल हैं ?' उन्होंने दो चाय और बिस्कुटों का आर्डर देते हुए केशव राम से पूछा।

'ठीक हूँ, गुरू। अपनी कहो।' केशव राम ने मेज पर कुहनियाँ टिकाते हुए कहा।

'आज तुम कुछ सुस्त से नजर आ रहे हो। क्या बात है ?' माया शंकर ने हर समय मस्त रहने वाले केशव राम को उदास देखा तो पूछा।

'कुछ नहीं यार, यह छोटे साहब बहुत परेशान करते हैं। और यह बाढ़-मेले इतना काम बढ़ा देते हैं कि कुछ पूछो नहीं।'

'अरे यार छोड़ो दफ्तर का यह चक्कर। यह लंच टाइम है। और कुछ सुनाओ।'

'क्या सुनाऊँ ?' केशव राम ने पानी का गिलास उठाते हुए कहा और फिर माया शंकर से पूछने लगा, 'क्या आज लालजी के यहाँ जाओगे ?'

माया शंकर को याद आया, आज दफ्तर के लाल जी टण्डन के लड़के का शगुन है। 'हाँ, जरूर जाऊँगा। बेचारे का एक ही तो लड़का है। हम ही लोग नहीं पहुँचेंगे तो कौन जाएगा।'

'यार, दूर बहुत है। दो रुपये तो रिक्शे वाला ही ले जाएगा।' केशव राम ने मुँह बिगाड़ते हुए कहा।

'चलो, कोई बात नहीं। कौन रोज-रोज यह अवसर आता है।' माया शंकर ने कहा और फिर पूछने लगे, 'क्यों न हम लोग साथ-साथ ऑफिस से ही चले चलें।'

'हाँ, मैं भी यही सोच रहा था। कुछ तो किफायत होगी ही।' केशव राम ने अपनी चाय समाप्त करते हुए कहा।

'अच्छा छुट्टी से पहले तय कर लेंगे।' माया शंकर उठ कर काउंटर तक बढ़ गए।

लंच के बाद लौट कर माया शंकर अपनी टेबिल पर बैठे निरन्तर इस उधेड़-बुन में पड़े रहे कि क्या ऑफिस से सीधे लाल जी के यहाँ उनका जाना ठीक रहेगा? साहब छुट्टी पर थे। साहब से सीधे अटैच होने के कारण आज माया शंकर की टेबिल पर न तो फाइलों की भीड़ थी और न ही चपरासी का बार-बार आगमन। माया शंकर निश्चिंत होकर धीरे-धीरे एक-एक फाइल को बड़े ध्यान से कई-कई बार पढ़ कर निबटा रहे थे।

यदि लाल जी के यहाँ ऑफिस से सीधे जाया जाय तो दो रुपये बच जायेंगे। पर घर लौटते-लौटते दस से कम क्या बजेंगे! दो घण्टे तो आने-जाने में ही खर्च हो जाएँगे। वहाँ कुछ देर औपचारिकतावश बैठना भी निश्चित ही होगा। फिर साथ में होगा बातूनी केशव राम। किसी के साथ बहस में उलझ गया तो घण्टा-आध घण्टा निकाल देना तो मामूली बात है। माया शंकर ने फाइल पर साहब का नोट दो बार पढ़ा, फिर भी वह यह समझ न सके कि आखिर साहब चाहते क्या है?

घर जाकर फिर लाल जी के यहाँ जाना पैसे और समय दोनों की फ़िज़ूलखर्ची होगी। उलटे फिर चौक लौटें और दारागंज के लिए रिक्शा-बस पकड़ें।

लेकिन ऑफिस से सीधे लाल जी के यहाँ जाकर, क्या वह घर पर प्रतीक्षारत लोगों के साथ न्याय करेंगे जो सुबह से उनकी राह में खाना-चाय लिए बैठे होंगे? माया शंकर ने ड्रार से गिलास निकाला और उठ कर बाल्टी से पानी पिया। पर घर जा कर वह पत्नी और नूपुर को जवाब क्या देंगे, उनकी समझ में अब भी नहीं आ रहा था।

पांच वजे के करीव केशव राम चलने के लिए पूछने आया तो माया शंकर ने कह दिया कि उन्हे पहले घर पहुँचना जरूरी है। वह घर से ही लाल जी के यहां पहुँचेगे।

पाँच के वाद जब चौकीदार दफ्तर वन्द करने के लिए आया तो माया शंकर ने अपनी टेबिल की फाइलें समेटना शुरू किया। यों रिक्शा उन्हे अपने दफ्तर के गेट पर ही मिल सकता था पर उन्होंने चौराहे तक टहल कर जाने का ही निश्चय किया।

'पापा आ गए।' नीता ने उन्हें रिक्शे से उतरते देखा तो दौडकर अन्दर सूचना दे आई। पत्नी चौके में थी। जल्दी-जल्दी आटे में सने हाथ धोकर बाहर निकल आई।

माया शंकर ने आँगन में पड़ी खाट पर बैठ कर चारों ओर घर का जायजा लिया। नूपुर ऊपर कमरे की झिझरी से झाँक रही थी, उन्होंने अपनी शिकारी आँखों से तुरन्त भाँप लिया। फिर पत्नी के चेहरे पर नजरें बैठाते हुए सवाल की प्रतीक्षा करने लगे।

'चाय वनाऊँ?' शाता ने जब जान-बूझ कर प्रसंग नही छेड़ा तो माया शंकर बहुत असहज हो उठे। पत्नी की चाय वाली वात उनकी समझ में ही नही आई। पत्नी ने दोहराया तो उन्होंने सहज होते हुए कहा, 'हाँ जल्दी से एक कप बना दो। मुझे अभी लाल जी के यहाँ जाना है। उनके लड़के का आज शगुन है।'

यों चाय पीते हुए उन्होने पत्नी को सब कुछ बतला दिया, फिर भी उन्हें लग रहा था, वात अभी अधूरी रह गई है। पत्नी ने घर पर ही आराम करने की सलाह दी तो माया शंकर ने मना कर दिया। 'तुम जानती नही, लाल जी के इकलौते वेटे का शगुन है। नही जाऊँगा तो वुरा मान जाएगा।'

घर से निकलते हुए उन्होंने चाहा था, वह स्टेशन से खरीदी हुई पत्रिका नूपुर को अपने हाथ से ही दे दें, पर उनका साहस न हुआ। पत्रिका उन्होंने चारपाई पर ही छोड़ दी और बाहर निकल आए।

वह नूपुर से बात करने में इतना कतराते क्यों हैं ? माया शंकर ने रिक्शे में बैठते हुए अपने से ही सवाल कर दिया। उन्हें नूपुर के सामने अपनी स्थिति स्पष्ट कर देनी चाहिए। हम जिस धर्म में पैदा हुए हैं, जिस समाज में रहते हैं हमें उसके अनुसार ही अपने को ढालना होगा, उसके रीति-रिवाजों को अपनाना होगा। वह कर ही क्या सकते थे, उनके हाथ कटे हुए थे। आखिर नीता को भी तो उन्हें कहीं निकालना है, सुरेश की भी तो उन्हें फिकर है।...और उस क्षण माया शंकर ने पाया, सामने का पत्थर हट गया है। उन्हें लग रहा था, अब वह धर्म और समाज की आड़ लेकर ही बच सकते हैं। धर्म और समाज ही है जो उन्हें उबार सकता है।

उत्तम टाकीज के पास पहुँच कर वह चौंके। उन्होंने नहीं सोचा था, इतनी जल्द वह इतनी दूर निकल आएँगे।

चन्द्र किशोर जायसवाल : जन्म १६४०, बिहारी गंज (सहरसा जिला)। पटना विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम. ए.। सम्प्रति राजकीय पालिटेकनिक, पूर्णिया में एसोसिएट प्रोफेसर। आपने अभी कम कहानियाँ ही लिखी हैं। कहानियों के अतिरिक्त आपने कविताएं एवं नाटक भी लिखे हैं। १६७५ में एक कविता-संकलन 'दस्तखत' प्रकाशित।

आदर-अनादर

अनजाने ही यह मेरा स्वभाव बन गया है कि मैं अपने किसी दोस्त के घर, और मेरे सारे दोस्त विवाहित हैं, उसकी गैरहाजिरी में नहीं जाता। अगर कहीं ऐसा हो गया कि मैं पहुँचा और दोस्त नदारद, तो मैं उल्टे पाँव वापस आ जाता हूँ, चाय तक पीने से कतरा जाता हूँ। पूछा जरूर जाता है चाय के लिए, एक बार, दो बार, तीन-तीन बार, पर जब मैं ही उखड़ कर भाग जाना चाहता हूँ तो वे अधिक जिद भी नहीं करतीं। मेरे किसी दोस्त की कोई बीबी इतनी सस्ती भी तो नहीं समझती अपने को कि वे जिद किये जाय और आप वहाँ दम लेने तक को तैयार नहीं। कुछ रुझान दिखे, तब तो। परिणाम यह होता है कि 'कब गये' और 'कब तक लौटेंगे' का उत्तर देते हुए वे दरवाजे पर खड़ी हो जाती हैं और मेरे विदा होने का आसरा देखने लग जाती हैं।

ऐसा नहीं कि मैं प्रेम करने या दिल लगाने से घबड़ाता या कतराता हूँ। ऐसी कोई बात नहीं है। पर अब तक का किस्सा तो यही है कि होता-जाता तो कुछ है नहीं और व्यर्थ ही शक-शुबहा की दीवार खड़ी होने लग जाती है। दोष इसमें मेरा भी कुछ कम नहीं है। शुरू से ही दोस्तों में मैंने खुद को इस कदर खोल रखा है कि निश्चय ही हर कोई मन में मुझे एक लुच्चा किस्म का आदमी समझता है, समझता ही होगा। हर दोस्त मेरे काम आता है, मैं दोस्तों के काम आता हूँ, पर

इतना जरूर है कि औरतों के मामले में वे मुझे काफी कमजोर समझते हैं। यौन-संबंधों के बारे में मेरे विचार भी उन्हें काफी खतरनाक दिखे होंगे। और इन विचारों को मैंने उनके समक्ष इतनी दफे दोहराया है कि मेरा कहा एक-एक लफ्ज उनकी जुबान पर याद बना चुका होगा। डींगें हांकते वक्त मुझे अपने भविष्य का ख्याल ही नहीं रहता। और तब कोई भी आदमी अगर मुझसे चौकस रहे तो उसे बहुत सयाना या शैतान नहीं कहा जा सकता। आखिर दोस्तों की बीवियां कोई मेरी मां-बहन तो हैं नहीं कि कुछ संस्कार की तरफ से भी रोक-थाम की उम्मीद रहे। और तब क्या पता, पत्नियों को मेरे बारे में क्या अनाप-शनाप कह रखा हो, आय-बाय। किसी भयंकर रोग की सूचना ही दे रखी हो मेरे बारे में, कि मेरा एक हल्का स्पर्श भी जानलेवा साबित हो सकता है।

मनमोहन मेरे करीब के दोस्तों में है। हम एक दूसरे के लिए तैयार रहते हैं। हमारी पत्नियाँ इस मित्रता की गहराई को जानती हैं। पटने में हमारा सात बरसों का सहवास रहा और उसी दरम्यान हमारी दोस्ती की शोहरत चारों ओर फैल गयी, हमारे घर वालों तक भी। अब तो डेढ़-दो बरस से मैं घर आ गया हूं, और हमारे दरम्यान साल में महज दो-तीन पत्रों का आदान-प्रदान होता है। खुद मनमोहन भी इस बात को कबूल करता है कि नजर से दूर तो दिल से दूर। पर फिर भी हम हमेशा एक-दूसरे की खबर जानने की इच्छा और कोशिश रखते हैं।

सचिवालय के एक काम से मैं पटना पहुंचा था। महज एक-आध रोज का काम था। कुछ तहकीकात करनी थी वहां। मेरे पास सिर्फ एक अटैची थी। एक चादर, एक अतिरिक्त पैंट-कमीज का जोड़ा। रुकूंगा कहाँ, इस पर यात्रा के दो रोज पहले से ही सोच-विचार कर रहा था। अक्सर गांव वाले एम. एल. ए. साहब के यहाँ चले जाते थे। मेरे साथ दिक्कत यह थी कि मैं तो उन्हें उनके दु:ख-सुख दोनों में देख चुका था, किन्तु वे मुझे पहचानते नहीं थे, अपना गांव कहने से भी नहीं पहचान पाते। यह दुर्भाग्य भी मेरा खुद का खरीदा हुआ था। वे बेचारे तो अपने

चुनाव-अभियान में हर किसी से हाथ मिलाते चलते थे, हथकटा गणेशी यादव तक उनका करीबी बन चुका था। पर मुझे बिल्कुल विश्वास नहीं था कि यह दुमकटा शख्स जीत भी सकता था। नहीं तो कौन मेरी जात-बिरादरी का आदमी था कि मैं शोखी झा की जी हुजूरी किया करता। नाहक सायकिल मरम्मत में पाँच-सात रुपये अपनी जेब से निकल गये थे।

ठहरने को मैं चन्दूलाल के डेरे पर भी ठहर सकता था। डेरे का पता तो मुझे मालूम नहीं था, किन्तु उसका आफिस मैं आसानी से खोज निकालता। बोरिंग रोड पर ही उसका आफिस था और मुझे उसी ओर से हो कर गुजरना था। चन्दूलाल मेरे गाव का ही रहने वाला है, मूसो भगत का लड़का। भगतजी ने बेटे को बहुत आरजू-मिन्नत कर उसे मैट्रिक पास करने पर मजबूर कर दिया था। बेटे को भी तब ताव आ गया। उसने प्रोफेसरों की देह मालिश कर और उनमें से एक के लिए रोज-रोज भांग पीस कर बी. ए. की डिग्री ले ली। बी. ए. पास करने में भी उसे दो की बजाय तीन साल नहीं लगते अगर कि वह बदमिजाज गाय ने उसे लताड़ न लगायी होती। हुआ था ऐसा कि परीक्षा की सुबह नकल के लिए सारी तैयारी पूरी कर चन्दूलाल ओसारे में बैठ कर सारे पुरजों को सिलसिलेवार सजा रहा था। इस बीच उसे पेशाव लग गया और वह उठ कर पास ही एक नाली पर बैठ गया। ऐन उसी वक्त न जाने कहाँ से एक गाय वहाँ प्रकट हो गयी, आसमान से टपक पड़ी कि जहन्नुम से दौड़ी आयी। बदख्याली में था कि सब कुछ जान-बूझ कर (इतना विचार नहीं हुआ कि एक आदमी का कैरियर खराब हो रहा है।) गाय ने पुरजों के ढेर में मुँह लगा दिया। गिरता-पड़ता, गरजता-चिल्लाता जब तक चन्दूलाल वहाँ पहुँचा था गाय ने पागुर करना शुरू कर दिया था। चन्दूलाल ने उसकी पूछ पकड़ ली, पूंछ से लटक गया, मुक्के मारे। पर बेरहम गाय एक ओर को लपक गयी। इस एक साल के इधर-उधर से चन्दूलाल का बाल बांका न हुआ। साल के अन्दर-अन्दर वह ताश का सबसे

होशियार खिलाड़ी माना जाने लगा। गाव के ऐसे हर अड्डे पर उसने अपना डंका बजा दिया था। इस महारत को हासिल करने में उसने रात को रात नही समझा और दिन को दिन। बाधा आयी, लोगों ने निखट्टू कहा, माँ रोयी-गायी, पिता ने जूते चलाये, पर जीरा-मरीच की छोटी-सी अपनी दुकान पर बैठने से इन्कार कर गया वह। वह तो भला हो बाबू सुखदेव सिंह का जिन्होंने मात्र सात सौ रुपये में चन्दूलाल के लिए क्लर्की खरीद कर ला दी, और तब उसका भी दिल पसीज गया। नौकरी भी तो राजधानी की थी।

काम पर लगते ही चन्दूलाल एकाएक बहुत कमाऊ और दुनियादार हो गया था। सूद पर पैसे लगाता और वसूल भी लेता, इससे अच्छी कमाई हो जाती। एक सहकारिता समिति स्थापित करवा डाली थी, उससे भी तिकड़म भिड़ा कर कुछ नोंच-खसोट लाता। खर्च के नाम पर बाप की नाक भी काट ली थी उसने।

चन्दू के यहाँ ठहरने में कोई हिचक की बात नही थी। गाव का, पड़ोस का साथी रह चुका था। आदर से ठहराता अपने पास। पर एक बात रह-रह कर मेरे जेहन में उभर आती थी। कुछ ही दिनों पहले उसके छोटे भाई मुनीलाल से भेंट हुई थी। वह चन्दू के पास एक बोरा चावल भेजने की जुगत में था। बात मंहगाई पर चल पड़ी थी। बातों ही बातों में वह कह गया कि उसके माँ-बाप पटना जाने वाले थे बेटे की हाकिमी देखने, दस-पाँच रोज वहाँ ठहरने की बात थी। तब तक उधर से चन्दू का लंबा खत आ गया कि अभी कुछ दिन और वे लोग ठहर जायें, पटने में जोरों की मंहगाई है, प्याज तक चार रुपये किलो बिक रहा है। अब ऐसी हालत में मैं चन्दू के घर मंहगाई से बढ़ कर बोलूं, ऐसा मैं नही चाह सकता था। बात महज ग्राम-दो ग्राम खाने की थी, पर मंहगाई तो थाली के दाने-दाने से बोल उठती। हर आदर अनादर से भरा रहता। भला-भला आदमी मंहगाई में फेन्क कर जाता है।

ले-दे कर मनमोहन बच रहा था। कितना सिर खपाता।

गाड़ी पटना जंक्शन करीब आठ बजे पहुँच गयी। मुझे ग्यारह तक सचिवालय पहुँच जाना था। मनमोहन दस के आस-पास आफिस जाता होगा, और अभी जाने से भेंट हो सकती थी। पर उस वक्त उसके पास जाने का मतलब था डेढ़ घंटे समय की बरबादी आने-जाने में और डेढ़ दूने तीन रुपये की बरबादी रिक्शा भाड़ा में। सब जोड़-घटाव के बाद मैंने यही निर्णय लिया कि पहले जिस काम से आया था उस पर ध्यान दिया जाय। काम से फारिग होकर ही कहीं आया-जाया जाय।

रेलवे प्लेटफार्म पर ही मैंने हाथ-मुँह धोये, कपड़े बदले और कुछ सोच कर वहीं क्लॉक रूम में अपनी अटैची रख दी। बाहर निकल कर मैंने चाय पी और नाश्ता सचिवालय कैंटीन में ही करने का इरादा बना कर उधर की राह पकड़ी। मेरा भाग्य, एक रिक्शे वाले ने अभी तक बोहनी नहीं की थी।

क्लर्कों से मुझे अधिक भय लगा, चुनांचे मैं सीधे सहायक निर्देशक के पास पहुँचा विनम्रता की मूर्ति बन कर। तहकीकात के लिए अफसर लोग पैसे नहीं लेते, ऐसा मैंने महसूस किया। पर तब ऐसा हुआ कि मुझे शरमा बाबू से मिलने को कहा गया। बाबुओं के कमरों में मैं शरमा बाबू को ढूढ़ने लगा।

उनके पास जाने के पहले मेरे मगज में पटने-पटाने का ख्याल आया, कितने तक में पट जायेगा। काम बहुत मामूली था, महज कुछ तहकीकात करनी थी। किन-किन उद्योगों पर सरकार कर्ज दे रही थी, लायसेंस प्राप्त करने का क्या तरीका था, कर्ज लेने के लिए क्या-क्या कागज बढ़ाने थे, आदि। फिर भी शरमाजी को कुछ तो मिहनत पड़ेगी ही, कुछ परेशानी होगी ही, समय नष्ट होगा, आलमारी खोलनी ही पड़ेगी, मुँह से दो लफ्ज निकालने ही होंगे। चुनांचे मैंने अपनी अन्दरूनी जेब से पाँच का एक नोट निकाल कर अपनी ऊपरली जेब में रख लिया। मुझे अपनी भुलक्कड़ी पर सख्त अफसोस हो रहा था कि क्यों नहीं मैंने पाँच का नोट तुड़ा कर उसे एक-एक दो-दो में बदल लिया था। अभी भी उसके लिए समय था। मैं

लुनाया न जा सके तो कहाँ से मिलेगा लायसेंस और परमिट, कैसे चलेगी दुकानदारी।

हाथ में कागज थामे हुए सीढ़ियाँ कूदता मैं सचिवलाय भवन के बाहर आ गया। एक क्षण मैंने विचार किया, अब क्या किया जाये, काम तो हो गया। और अभी सिर्फ दो बजे थे। एकाएक क्लॉक रूम में रखी अटैची का खयाल आ गया। रेलवे कर्मचारी तो शरीफ होते होंगे, कहीं मेरी अटैची से माल न निकाल लें। एक चादर, एक पैंट, एक कमीज। मामूली सा तो ताला पड़ा था उसमें। अगर ऐसा धंधा होगा तो चाबियों का गुच्छा ही रखते होंगे वे। अटैची का जिस्म, रंग और स्वास्थ्य देख कर शायद उसे नहीं भी खोलें, पर अगर कहीं हाथ लगा दिया तो दया तो करने से रहा। पर नहीं, ऐसा नहीं होता होगा। ऐसी शिकायत कभी सुनी तो नहीं है। पर क्या ठीक। जेब में हाथ डाल कर मैंने क्लॉक रूम की रसीद की खोज की, कहीं गुम तो नहीं हो गई। नहीं, थी। उसे संभाल कर रख दिया।

पान की दुकान पर पान खाया, जेब से कंघी निकाल कर बाल झाड़े और फिर रिक्शा की टोह में आगे निकल आया। पर अभी रिक्शा ले कर जाया कहाँ जाय। मनमोहन तो अभी आफिस से आया नहीं होगा। पाँच से पहले नहीं। जब सुबह ही पटना पहुँच चुका था, इस दोपहर में बेवक्त पहुँचने का क्या मतलब। बीच दोपहर में, ठीक जब वह गैरहाजिर है। 'औरत को जब तक तीन बच्चे न हो जाँय, खास निगरानी की जरूरत है मर्द को'—मेरे इस वक्तव्य को एक नहीं बीसों बार सुन चुका था वह। जरूर याद भी रखा होगा। कहने को तो कहने वाला ओछा कहा जायेगा, पर सुनने वाला एक बार तो जरूर सजग हो जाता है। क्या मनमोहन ने बीवी के नाम आये किसी भी खत को आज तक कभी भी चुपके से नहीं पढ़ा होगा, यह जानने के लिए कि खत का मजमून क्या है, किसी ने प्रेम-प्यार की बातें तो नहीं लिख भेजी हैं। 'आपकी प्यारी बहन सुशीला' या 'तुम्हारी प्यारी सखी चम्पा' साफ-साफ लिखे रहने पर

बाहर आकर अपना नोट तुड़ा सकता था, कैंटीन में या किसी पान-सिगरट की दुकान में। पर एक संशय तो तब भी था मन में। एक का नोट बढ़ाऊँ और शरमा बाबू उठा कर फेंक दे उसे सरेआम। दो के नोट पर आँखें तरेर सकता था वह। पांच का ही क्या भरोसा था, एतराज कर सकता था। दस पर भी दूसरे रोज आने के लिए कह सकता था। पन्द्रह पर शाम तक ठहरने के लिए। मुझे तो फटाफट काम निकाल लेना था। मैंने भगवान का और उस पाँच का भरोसा किया।

शुक्र है खुदा का, सौदा पटाने जैसी कोई बात नहीं हुई। शरमा बाबू ने इज्जत से मुझे अपनी मेज के पास खड़ा रहने दिया, मेरे नम्रताभरे डायलॉग पर मुझे पास की कुरसी पर बिठाया, चुपचाप मेरा बढ़ाया गया पाँच अपनी जेब में रख लिया, मेरे हाथों में आवश्यक कागजात थमा दिये और दो लफ्ज मुँह से भी निकाले, 'सब कुछ इन परचों में लिखा हुआ है, इन्हें पढ़ लेंगे।' मैंने शुक्रिया कहा। कागजों को संभाल कर जेब में रखा, बड़ी सी मेज ले कर बैठे हुए बड़ा बाबू की कनखी से अपनी कनखी मिलायी और फिर तेज कदमों से एक धक्का और एक 'सॉरी' को अन्दर छोड़ खुद बाहर निकल आया।

सही चीज को भ्रष्टाचार कहने वालों पर मुझे जोरों का गुस्सा आया। कोई यह कहे मेरा पाँच का नोट देना भ्रष्टाचार हुआ तो समेट कर रखे वे अपनी अक्ल। सौ रुपये खर्च कर मैंने पटना यात्रा की, दो सौ की अटैची रात भर सीने से लगाये रहा जबकि सहरसा और मानसी के बीच सही सलामत रात काट लेता है कोई-कोई किस्मत वाला, ट्रेन में चढ़ने में गाली-गलौज, उतरने तक में उठा-पटक, 'बीवेअर आफ पिक पॉकिट्स;' समय का नुकसान, होटल का खर्च' और न जाने कितने। और तब अगर इसमें पाँच रुपये, सिर्फ पाँच रुपये शामिल कर लिये गये तो कौन सा वज्र गिर गया समाज पर। भ्रष्टाचार। किस तरह ? आप बहुत तो इसे होटलों में बेयरों को दिया जाने वाला 'टिप' कह सकते हैं। अगर आदमी को अर्थ-लोभ न हो और इन छोटी रकमों से भी आदमी को

लुनाया न जा सके तो कहाँ से मिलेगा लायसेंस और परमिट, कैसे चलेगी दुकानदारी।

हाथ में कागज थामे हुए सीढ़ियाँ कूदता मैं सचिवलाय भवन के बाहर आ गया। एक क्षण मैंने विचार किया, अब क्या किया जाये, काम तो हो गया। और अभी सिर्फ दो बजे थे। एकाएक क्लॉक रूम में रखी अटैचो का खयाल आ गया। रेलवे कर्मचारी तो शरीफ होते होंगे, कहीं मेरी अटैची से माल न निकाल लें। एक चादर, एक पैंट, एक कमीज। मामूली सा तो ताला पड़ा था उसमें। अगर ऐसा धंधा होगा तो चाबियों का गुच्छा ही रखते होंगे वे। अटैची का जिस्म, रंग और स्वास्थ्य देख कर शायद उसे नहीं भी खोलें, पर अगर कहीं हाथ लगा दिया तो दया तो करने से रहा। पर नहीं, ऐसा नहीं होता होगा। ऐसी शिकायत कभी सुनी तो नहीं है। पर क्या ठीक। जेब में हाथ डाल कर मैंने क्लॉक रूम की रसीद की खोज की, कहीं गुम तो नहीं हो गई। नहीं, थी। उसे संभाल कर रख दिया।

पान की दुकान पर पान खाया, जेब से कंघी निकाल कर बाल झाड़े और फिर रिक्शा की टोह में आगे निकल आया। पर अभी रिक्शा ले कर जाया कहाँ जाय। मनमोहन तो अभी आफिस से आया नहीं होगा। पाँच से पहले नहीं। जब सुबह ही पटना पहुँच चुका था, इस दोपहर में बेवक्त पहुँचने का क्या मतलब। बीच दोपहर में, ठीक जब वह गैरहाजिर है। 'औरत को जब तक तीन बच्चे न हो जाँय, खास निगरानी की जरूरत है मर्द को'—मेरे इस वक्तव्य को एक नहीं बीसों बार सुन चुका था वह। जरूर याद भी रखा होगा। कहने को तो कहने वाला ओछा कहा जायेगा, पर सुनने वाला एक बार तो जरूर मजम हो जाता है। क्या मनमोहन ने बीवी के नाम आये किसी भी खत को आज तक कभी भी चुरके से नहीं पढ़ा होगा, यह जानने के लिए कि खत का मजमून क्या है, किसी ने प्रेम-प्यार की बातें तो नहीं लिख भेजी हैं। 'आपकी प्यारी बहन सुशीला' या 'तुम्हारी प्यारी सखी चम्पा' साफ-साफ लिखे रहने पर

नी क्या एक बार उन हरफों पर गौर नही किया होगा कि दरअसल ये हरफ जनाने है या मर्दाने, कि कही ये जनाने नाम मर्द-संस्करण तो नही हैं। जरूर किया होगा। और अगर किया होगा तो सबसे पहले मेरी ही याद आयी होगी।

तब तक गांधी मैदान में समय बिताया जा सकता है, मूँगफली के जरिए, कोई बिना पैसे का खेल, किसी मदारी-तमाशागर के पास, या किसी साधु के प्रवचनों को सुनते हुए। पास से गुजर रहे एक रिक्शे वाले को मैंने टोक दिया, 'क्यों जी, गांधी मैदान चलोगे, कितने पैसे?'

'दो रुपये।'

मेरी देह में तो आग लग गई। गुस्से से मैंने मुँह फेर लिया। एक-आध हांक भी लगायी उसने, 'सुनिये बाबूजी।'

उल्टी दिशा में चार रिक्शे एक के बाद एक तेजी से गुजरे। मैंने हर एक को हाथ हिलाया। पर ऐसा लगा कि वे सब दिल्ली की यात्रा पर हों अथवा कम से कम पांच-छः सौ मील की किसी लंबी दौड़ में शरीक। जबान तक नही हिलायी किसी शख्स ने। एक बोतल की कमाई हुई नहीं कि दिमाग आसमान पर चढ़ जाता है।

फिर तो ऐसा हुआ कि आय-कर भवन तक मैं पैदल ही आ पहुँचा। वहाँ रिक्शे वाले ने डेढ़ बताया, मैंने एक। इलाहाबाद बैंक के पास उसने एक कहा तो मैंने पचहत्तर पैसे। राज होटल के पास मैं पचास पैसे पर अड़ा रहा, रिक्शा वाला पचहत्तर के नीचे नही आया। अब तो मेरी मंजिल समीप आ गयी थी। 'कितने पैसे' और 'इतने पैसे' के सवाल-जवाब का अन्त मैंने वही कर दिया। पान खा-खा कर मैंने वह दूरी तय कर डाली। पैर जरूर कुछ थके से लगे रहे थे, प्यास भी महसूस हो रही थी, पर इनकी तुलना में रिक्शा चालकों का अमानवीय व्यवहार ज्यादा कष्टदायक लगा था।

हँसी आ गई मुझे अपनी अकल पर। भला इस वक्त कौन क्या करता गांधी मैदान में, अभी तो काफी धूप थी। कही गाय-बैल तक नही।

मुसताने को कोई छांह तक नही। और प्यास अब काबू के बाहर खिसकती जा रही थी।

नजर उस पठान पर अटक गई, उसी तरह जैसे औरत के सीने पर अटक जाती है। मैं होटलों की ओर घूर रहा था। उस कतार में कई बड़े-बड़े होटल थे, पैलेस, इन्टरनेशनल, संजय। इन्टरनेशनल का वह पठान दरवान की पूरी वरदी में था, अलग से लंबी नुकीली मूँछे। पहली ही नजर में बता देता था, अन्दर क्या शान-शौकत थी। मेरे रूखे बाल, जो कंघी का कहा कम और हवाओ का कहा अधिक मानते थे। सूखा हुआ चेहरा, जिस पर दूध-घी की चमक नदारद और सालों भर सकरकन्द खाये जाने की छाप जरूरत से ज्यादा। मेरा पैंट जो पाजामे की शक्ल अख्तियार कर चुका था, ढीला-ढाला। मेरी कमीज जिस पर ढेर मारे चौराहे ऊबड़ खाबड़ राहों के साथ मौजूद। वह जो सवालिया नजरों से मुझे घूरेगा तो आधी रईसी तो मेरी वही खत्म। बची आधी। उसका भी हिसाब मैंने तुरन्त जोड़ लिया। अगर किसी सुनसान में एक कुरसी दखल हो भी गई तो शायद मेरा मुँह देख कर बेयरा उदास हो जाये। पास आ-आ कर दूर निकल जाये। फिर एक भारी भरकम मेनू। यहाँ तो कोई रईसी खाना होगा, रोज-रोज आने की तो बात है नही। पर इस भीड़ में एक नया खाना कैसे खाया जाय, कही तौर-तरीका गलत निकला तो दो-चार सैकड़ो आँखे मुसकरा पड़ेगी। कौन जाने स्वाद नही पटा और बीच में ही उबकाई आने लगे तो। लोग तो बकरी उबाल कर खा लेते है और कहते हैं कि स्वाद भी आ रहा है। तो फिर बची अपनी पसन्द की चीजे, रस-गुल्ले, समोसे, चाय, काफी। पर यहाँ तो इन चीजों के आकार और कीमतो में बाघ और बकरी का रिश्ता रहता है।

गन्ने वाले का ख्याल मेरे दिमाग में बिजली की तरह कौंधा। इधर ही उसका ठेला लगता था, तुरन्त गन्ना पेर कर ताजा रस हाजिर कर देता था। सस्ता पेय। मैंने इर्द-गिर्द नजर दौड़ाई। प्यास बुरी तरह बढ़ गई थी। एक गिलास ताजा रस मिल जाये, सारा मामला तय। घंटे दो

घंटे की बात थी, फिर तो मनमोहन के घर पर चलेगा ही। तब तक क्या मैं छोटी सी भूख को रोक नहीं सकता। पेट का चूहा अधिक कुदाने से भी कूदता है। रस ही लेना बेहतर लगा, भूख से अधिक तो प्यास थी। पर देखिए किस्मत, वह भी नजर नहीं आया। मर तो नहीं गया।

मैं खादी भवन में घुस गया। पच्चीस पैसों में पांच टाफियां खरीदी और उन्हें चूसने लगा। कुछ वक्त गुजार लेना था, चुनांचे मैं घूम-घूम कर उन कपड़ों और बनी बनाई पोशाकों को देखने लगा जिन्हें खादीधारी होने पर मैं पहन सकता था। बहुत सी कलात्मक वस्तुएँ भी थीं खरीदी जाने लायक जिन्हें सजाने के लिए मैंने अब तक घर का एक भी कोना तैयार नहीं किया था।

वहाँ से मनमोहन के घर तक का रास्ता तय करने में कितना वक्त लगेगा। अन्दाजा मैंने खादी भवन में घुसते ही कर लिया था, महज २०-२५ मिनट। रिक्शा लेना नहीं था। सचिवालय से खादी भवन की यात्रा ने हर तरह से मेरी आँखें खोल दी थीं। संध्या में यों भी वायु सेवन। पाँच बजने में दस मिनट बच रहे थे, मैं भवन से बाहर निकल आया।

मनमोहन के पास दो बच्चे हैं और उसकी पत्नी के पास चार आखें। चुनांचे मेरे लिए लाजिमी था कि मैं बच्चों के लिए कुछ बिस्किट-चाकलेट खरीद लूँ। मैं उस सुख की कल्पना करने लगा जो वहाँ पहुँचने पर मुझे मिल सकता था। दरवाजे पर दस्तक दूँगा, बोलूँगा कुछ नहीं। दरवाजा खुलते ही मनमोहन के सामने मैं मुसकराते हुए बहुत अदा से पेश आऊँगा। 'अरे तुम' कहते हुए वह लगभग चीख पड़ेगा। मैं भीतर घुसूँगा और वह मुझे सीधे अपने शयन कक्ष में लेकर चला जाएगा। उसकी बीवी जो नमस्कार के बाद अब तक सामने खड़ी मुसकरा रही होगी इसका जरा भी बुरा नहीं मानेगी और बच्चों को प्यार से बतला रही होगी, 'अरे, चाचा जी हैं रे, प्रणाम करो।' बच्चा अगर मेरे बबलू की तरह हुआ तो केवल शरम दिखा कर मां की ओट ले लेगा और मां के फिर कहने पर भी केवल 'ऊंह-ऊंह' करेगा। मैं दो में से किसी एक के

गाल पर हल्की सी थपकी लगाऊंगा और फिर उसे अपनी जाघों के बीच समेट कर कुरसी पर बैठ जाऊंगा। और उसके नाम-धाम पूछने लगूंगा। और हां, तब तक मैं उसकी बीबी से एक गिलास जल की फरमाइश कर दूंगा। फिर जब सब मौजूद रहेंगे, मैं अखबार मे लिपटा बिस्किट का डब्बा किसी बच्चे के हाथ थमा दूंगा। उनके बच्चे भी अगर आम बच्चो की तरह हुए तो आपस में छीना-झपटी शुरू हो जाएगी। बडा बच्चा अगर मेरे बबलू की तरह हुआ तो छोटे को एक-आध चपत भी जड़ सकता है और अगर छोटा भी मेरे पिन्टू की तरह ही हुआ तो बड़े की कलाई मे दांत गड़ा सकता है, अथवा उसकी देह के ऊपर थूक सकता है जिसकी कुछ छींटे मेरी देह पर भी पड़े। उनकी मां आंखो के व्याकरण से उन्हे चालू भाषा के दोष बतलाती रहेंगी जिनमें उन्हे अपना अनहित छिपा हुआ मालूम पडेगा। मैं इस ओर से अपने को बिल्कुल बेखबर जताने की कोशिश करूंगा, सब कुछ अनदेखा-अनसुना करते हुए। तब तक मेरे नाश्ते का भी इन्तजाम शुरू हो जाएगा। मनमोहन के साथ शुरू हो जाएगी ढेर सारी बातें, आफिस की राजनीति, जातिवाद की चरचा, मोहल्ले के नालायक लोग, गुंडों का सही इलाज, घर का झगड़ा-झंझट, गांव से कोर्ट-कचहरी और इलाज हेतु आए अतिथियों का विचार-व्यवहार, और न जाने क्या क्या। कमरतोड़ महंगाई की भी चरचा जरूर चलेगी और तब मैं भी बिस्किट की गगनचुंबी कीमत बताए बगैर न रहूंगा। पर तब मेरे लिए बिस्किट का बड़ा डिब्बा खरीदना जरूरी था। बडा डिब्बा ही सही, उसके घर नाश्ता और खाना दोनो लेना था। यों मैं अपना भलापन जरूर जाहिर करूंगा अपना हाजमा खराब बताते हुए, पर न तो मै ही कोई जिद कर बैठूंगा और न तो वही मुझे खिलाए बगैर दम लेगा।

सरदार जी ने तब तक बिस्किट के कई छोटे-बड़े डिब्बे सामने फैला दिए थे। मोल-तोल के बाद कम कीमत का एक बड़ा सा डिब्बा मैंने पसन्द कर लिया, पैसे चुकाए और बाहर चला आया। मैं गली के नुक्कड़ पर आकर पान खाने लगा। इसी गली में मनमोहन का मकान था।

आईने में मैंने अपनी सूरत कुछ सुधार ली। सरदार को पैसे देते वक्त क्लॉक रुम की रसीद बाहर निकल आयी थी, उसे संभाल कर तरजेब में रख लिया और फिर उस गली में घुस गया।

यह गली काफी तेज चलने लायक है। या तो गली के बच्चों की तादाद काफी अधिक है अथवा उनकी पाचन-शक्ति, कि दो-चार हमेशा पैंट खोले नालियों पर जमे रहते हैं। पडोसिनों में गाभिन औरतों के बच्चे तक गिरा देने वाली गालियों का गगन-भेदी स्वरों में आदान-प्रदान होता है। मोहल्ले की तो बात अलग, बाहर के लोगों को भी शराब पीकर झगड़ा करने के लिए उसी गली का भूगोल जंचता है। सोने में सुगंध, शराब की भट्ठी तक पहुँचने का राज-मार्ग वही गली है।

मनमोहन के मकान की छत पन्द्रह-बीस गज दूर से दिखाई पडने लगी। मैंने ऊपर नजर दौड़ाई। शायद छत पर हवाखोरी के लिए आ गये हों वे सब। शाम भी तो होने को थी पर नही, वहाँ कोई नही था। तुरंत आया होगा शख्स और कपड़े उतार कर मुंह-हाथ धोने को होगा। बीवी नाश्ता तैयार करने में लगी होगी।

मैं ठिठक कर खड़ा हो गया, हक्का-बक्का। मकान सामने था और दरवाजे पर अलीगढ़ वाला मोटा ताला जड़ा हुआ था। खिड़किया तक बन्द। मैं कुछ देर ठिठका रहा। बगल के मकान से एक जवान खासता हुआ बाहर आया तो उसके फेंके हुए थूक से काफी चपलता दिखा कर बचते हुए मैंने प्रश्न किया, "मनमोहन बाबू यहा नही हैं क्या?"

"वे गाव गये है।"—एक बार और थूक फेंक कर वह अन्दर वापस हो गया।

मैंने होश किया, मुहूर्त तो ठीक था। सचिवालय से लाए कागज मेरे पास ज्यों के त्यों थे, मैंने टटोल कर देख लिया। क्लॉकरूम की रसीद भी थी, फिर से मैंने देख ली। तब और क्या बचता है। मनमोहन से भेंट नही हुई। अगली बार हो जाएगी। जरूरी काम तो यह था भी नही।